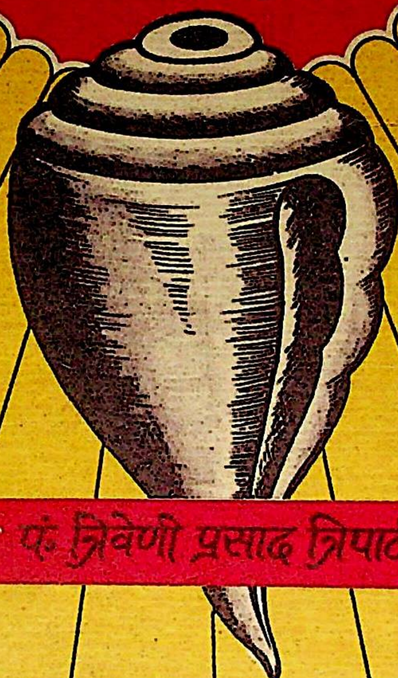
9.2

अचार्चिकदर्शन
एवम्
स्वरपात निवारण स्तोत्रम्

संगीत का एक अत्याधुनिक शास्त्र



पं० त्रिवेणी प्रसाद त्रिपाठी

BEST COMPLEMENT FROM
SHUNDARLAL MERCHANT
BOMBAY
25-8-94

अचार्चिकदर्शन

एवम्

स्वरापात निवारण स्तोत्रम्

संगीत का एक अत्याधुनिक शास्त्र

लेखक
पं. त्रिवेणी प्रसाद त्रिपाठी
(कृपानन्द योगी
ग्राम-लखनेपुर (लक्ष्मणपुर)
पो. घनश्यामपुर-जिला जौनपुर, उ.प्र.

टीकाकार
पं. रामचन्द्र मिश्र
व्याकरणाचार्य (शेखर) ईश्वरी नारायण संस्कृत महाविद्यालय
बदलापुर, जौनपुर

सम्पादक
सतीश प्रकाश तिवारी
एम, ए, संस्कृत, एल, एल. बी. प्रथम वर्ष
पूर्वाञ्चल विश्वविद्यालय, जौनपुर

प्रकाशक :
त्रिवेणी प्रसाद त्रिपाठी (कृपानन्द योगी)
ग्राम. लखेनपुर, (लक्ष्मणपुर)
घनश्यामपुर, जौनपुर

प्रथम संस्करण १००० प्रतियाँ, सन् १९९३

मूल्य : रू. ३०/- (तीस मात्र)

मुद्रक :
तारा प्रिंटिंग वर्क्स, कमच्छा, वाराणसी

भूमिका

संस्कृति शब्द का मूल सृष्टि है। सृष्टि के सभी तत्त्व स्वर में निहित हैं। स्वर का सम्बन्ध कण्ठ जगत से है। अचः स्वराः। अच् समूह ही स्वर है। स्वर की संस्कृति और उसकी सृष्टि धर्म-ज्ञान-परक हैं। जिस कण्ठ जगत से स्वरों की अभिव्यक्ति होती है, उसी के विषय में "अचार्चिक दर्शन शास्त्र" की रचना हुयी है, जो रचना की रचना है। कहने का तात्पर्य यह है कि एक प्राकृत रचना है, जो प्रसव के पहले हो जाती है, दूसरी रचना वह है जो प्रसव के पश्चात् स्वान्तः सुखाय सर्व जन हिताय के लिये होती है। इस प्रकार से प्रसव के पहले की कण्ठ जगत की रचना जन्मजा कही गयी है अतः जन्मज कण्ठ किसी विरले को ही मिलता है। जन्मज सिद्ध कण्ठ गाने के लिये होता है और अजन्मज अर्चन के लिये होता है, देश समाज पर्यावरण रक्षण व कल्याण के लिये होता है प्रतियोगी बन कर गाने के लिये नहीं होता क्यों कि कण्ठ में अचभङ्गता का जन्म के पश्चात् रचना नहीं हो सकती केवल संशोधन हो सकता है। इस प्रकार से संशोधन कार्य जीवन भर चलता रहता हैं, क्यों कि ज्ञान व शान्ति पूरे जीवन की वस्तु है। जन्मज की भांति एक दिवसीय नहीं है। इस प्रकार से जन्मज सिद्ध कण्ठ वालों का कार्य गाना है, न कि साधन करके कण्ठ को सजाना है। जन्मज स्वर तन्त्री का प्राकृत गठन संतुलित अच् समूहों के साथ निर्विघ्न निरामय और निर्विकार होता है।

कण्ठ जगत

प्रकृति प्रदत्त कण्ठ में संतुलित नादों का स्फुरण सहजता के साथ स्वयमेव होता है, वह लालित्य प्रधान अनुरणनशील प्रभावकारी सबका (साधन) प्रेरक और स्तुति योग्य होता है, उसमें कण, मुरक , मीड़, गमक,

ललक, बल जोड़, सपाट, सभी क्रियाङ्ग विधियाँ स्वयमेव जाने अनजाने ही होती रहती हैं, उसमें मनोवाञ्छित सिद्धि योग होता है। मैं ग्रन्थकर्ता उस परम नाद व जन्मज कण्ठ की स्तुति करता हूँ। तत्पश्चात् प्राकृत जन्मजा कण्ठ के विशिष्ट तत्वावधान में हम सभी गोता लगाते रहते हैं सुन कर प्रभावित होते रहते हैं परन्तु उस प्रकार हो नहीं पाते, अतः वैसा होना ही परम लक्ष्य नहीं होना चाहिये, उसमें सदा तल्लीन रहना, साधन से जुड़े रहना ही परम लक्ष्य है, क्योंकि अजन्मज कण्ठ वाले ही साधन करने के अधिकारी होते हैं, वही विद्वान होते हैं, वही सृष्टि रहस्य स्वर संस्कृति व उसके धर्म तत्त्व को जान पाते हैं जो कि अपनी परिपक्व अवस्था में पहुँच जाने के पश्चात् जन्मजा सिद्धों को भी क्रियांङ्ग विधियों के साथ स्वर संस्कृति तथा उसके धर्म तत्त्व का बोध कराते हैं जैसे कि राम के रामत्व का ज्ञान कराने वाले वशिष्ठ जी हैं। राम के रामत्व को बिखेरने वाले वाल्मीक हैं, और गीता में कृष्ण के उपदेशों को बिखेरने वाले वेदव्यास हैं।

क्रियांग विधियों का अध्यारोपण

किसी कठोर कण्ठ में क्रियांग विधियों का अध्यारोपण कैसे सम्भव होगा, क्यों कि उसकी प्राप्ति की चेष्टा हर एक साधक में होती है, प्राकृत कण्ठ का यही गुरूत्वाकर्षण है, जो साधन करके उसे प्राप्त कर लेने के लिये वह प्रेरित करता रहता है। परन्तु प्राकृत जन्मज कण्ठ वाले व्याकरण की विधि को न जान पाने के कारण कठोर कण्ठ में क्रियाङ्ग विधियों का अध्यारोपण नहीं कर सकते जैसे कि कोई भी अवतार अपने समकक्ष दूसरे अवतार की रचना नहीं करने की सोचता। उसी प्रकार जन्मज कण्ठ वाले दूसरे कण्ठ रचना के बारे में सोच भी नहीं सकते नहीं उसके व्याकरण के बारे में ही अपनी कोई पकड़ बना सके हैं। क्यों कि अभ्यास से नाद का विकास

होता है उस अभ्यास से कण्ठ की रचना नहीं होती-मंञ्च पर गाने से भरण-पोषण होता है, लगातार अभ्यास से जन कल्याण होता है, वनस्पति और औषधियाँ प्रफुल्लित रहती हैं, अध्यस्थ सभी देव, सूर्य, चन्द्र, पृथ्वी, जल, अग्नि, वायु, आकाश, पर्यावरण, पितृगण, सभी अपनी-अपनी वरदान स्वरूप शुभ कामना प्रेषित करते हैं। मेरूखण्ड के अभ्यास से नाद का विकास सम्भावित है परन्तु मेरुखण्ड के अभ्यास से कण्ठ रचना नहीं हो सकती। क्यों कि साधन का गन्तव्य देश मञ्च नहीं साधन का गन्तव्यदेश स्व-जन कल्यण हैं। प्रभु कृपा से प्राप्त होने वाली अद्वितीय वस्तु में प्रभु की ही कृपा होती है, जो परम प्रेम रूप अमृत स्वरूप ज्ञान-भक्तिपरक होती है, इस प्रकार की प्राप्त होनेवाली वस्तु में मञ्चस्थ होने वाले उत्साह का अत्यन्ताभाव होता है, और यही संगीत विद्या के साधकों का चरम लक्ष है, मञ्चस्थ होना न संगीत की चरमता है। (सतत् अभ्यास करते रहने से कलिमल का अभिमान अपने भ्राता सतयुग को समर्पित होजाता है) और नहीं ही उसका गन्तव्य देश ही है। संगीत स्वान्तः सुखाय जन पर्यावरण हिताय अमृतस्वरूप परमानन्द विषयक स्वर धर्म, संस्कृति, सृष्टि प्रबोधक अद्वय ज्ञान है।

धर्म और संस्कृति

धर्म और संस्कृति कहने के लिये दो हैं परन्तु दोनों एक दूसरे से अभिन्न हैं। धर्म चलाया नहीं जाता—सदावर्त चलाया जाता है। दान दिया जाता है और लिया भी जाता है। सृष्टि में धर्म एक है, सृष्टि ही धर्म और संस्कृति है। इस प्रकार से विश्वमें धर्म शब्द एक ऐसा विलक्षण व साश्चर्यवत् शब्द है, जिसका न कोई पर्याय है न कोई पूरक और नहीं समानार्थी ही। सभी भाषाओं में धर्म शब्द एक है उसका अन्य कोई विकल्प है ही नहीं, क्यों कि धर्म शब्द अपने मूल अर्थों सहित सृष्टि की आदि रचना व अनादि दोनों में तराजू के

केन्द्रीय समता का सूचक है, इस प्रकार धर्म शब्द कल्पनातीत निर्विकल्प है। उसका कोई सञ्चालक भी नहीं होता, जो स्वयम् ही चले वही धर्म है। जब जब और जहाँ भी अल्पता वश इसका कोई सञ्चालक बनने का प्रयास किया तो वह स्वयम् ही विकृत होगया, भ्रमित होगया, अन्ततोगत्वा वह धर्म विरोधी होकर गिर गया।

विश्वमें धर्म शब्द एक है, एक कभी कटता नहीं, अनेक होकर भी नहीं कटता, जो अकाट्य है, वही धर्म है। धर्म के प्रति पथच्युत होने पर ग्लानि होती है, परन्तु धर्म का कभी पतन हुआ ही नहीं, इसी लिये वह नष्ट भी नहीं हो सकता। जैसे घट का घटत्व, चन्द्र का चन्द्रत्व, सूर्य का सूर्यत्व, पृथ्वी का पृथ्वीत्व, अग्निका अग्नित्व, आप्त का आप्त्व शब्द स्वर का अर्थ और स्वरत्व, षड्ज स्वर का षड्जत्व, ऋषभ स्वर का ऋषभत्व इत्यादि। कहने का तात्पर्य यह है कि धर्म और धर्मी अभिन्न हैं, शब्द और अर्थ स्वर और आनन्द अभिन्न हैं, स्वर की संस्कृति ही उसी की सृष्टि और उसी का धर्म है। इसी को जानना और इसकी गहराई में पहुँचना ही ज्ञान है। ज्ञान ही धर्म है, धर्म ही, संस्कृति व सृष्टि है। इसी सृष्टि में स्वर रवावृत्त भी है, स्वर में र व अज्ञान व विकार स्वरूप आवरण है, साधन, भजन, कीर्तन द्वारा इसी र व को समाप्त करने के लिये शास्त्रों का निर्माण हुआ है, जिसकी चर्चा वारम्वार होती ही रहती है।

उपर्युक्त सन्दर्भ में यदि कोई कहे कि स्वरों में आनन्द स्वर का मजहब है, व उसका रिलीजन है, अथवा स्वर में निहित आनन्द स्वर का सम्प्रदाय है, यह बात युक्तिसंगत नहीं लगती, नहीं व्याकरण और साहित्य से प्रमाणित ही होती है। कसी भी मार्ग व पन्थ द्वारा धर्म तक पहुँचने की बात बनती है। वहाँ तक पहुँचलेने वाली विधि भी है, पहुँचना ही मानव का चरम लक्ष भी है। धर्म शब्द महासागर के समान सक्षम व पवित्र है, वही सबका अधिष्ठान

है, और सबमें निर्लिप्त है, उसी में विलीन होने के लिये सभी सम्प्रदाय और पन्थ अपनी अपनी युक्तियों से चलने का प्रयास करते रहे हैं, कर भी रहे हैं। इस प्रकार से धर्म शब्द में जितने भी तत्व कार्य करते हैं उसमें उनका कोई टकराव नहीं होता। यदि कोई टकराता भी है तो वह अज्ञान है। अन्तःकरण में निहित कलिमल राग और द्वेष है। भला महासागर कब नदियों को मिलने से मना किया है ?

अज्ञान

ज्ञान शब्द में 'अ' का प्रवेश अल्पता व आवरण सूचक है। इसप्रकार से जिसे 'अ' का ज्ञान होजाता है, तो वह ज्ञानी व तत्ववेत्ता कहा जाता है, और ज्ञान सदा उसके लिये शेष रहता है, उसके चिन्तन, मनन, स्वाध्याय, नित्य अभ्यास के फलस्वरूप आवरण रूपी 'अ' तिरोहित हो जाता है।, इसी को भगवान कृष्ण ने गीता में "अक्षराणामकारोऽस्मि" कहा है, जिसे इसका ज्ञान नहीं होता तो वह आवरण स्वरूप 'अ' से जुड़ा रहता है। परम्परानुसार अ का ज्ञान न होना ही अज्ञान है। मानव शरीर उसी का यन्त्र है, और धर्म का मूल 'अ' है। इस 'अ' के यन्त्र में सूर्य, चन्द्र, पृथ्वी, जल, अग्नि, वायु, आकाश, ग्रह, नक्षत्र, दिशायें, मन, बुद्धि, अहंकार पञ्च प्रपञ्च, वृत्ति, विकार, वात, पित्त, कफ सभी एक साथ 'अरे' के समान अध्यस्थ हैं। कहने का भाव यह है कि पृथ्वी सूर्य चन्द्रादि का इसमें न कोई मजहब है (जो कि भेद-भाव युक्त है) न कोई रिलीजन, नहीं कोई सम्प्रदाय ही है। यदि है तो अभेद से जुड़ा धर्म है, और वह धर्म है, पृथ्वी से गन्ध, आप्त से रस, अग्नि से रूप, वायु से स्पर्श, आकाश से शब्द व स्वर। सूर्य से रेचन, चन्द्र से कुम्भक-वृत्ति से पूरक।

इसी 'अ' को सामवेद में षड्ज कहा गया है, जो साम और साप, के सम्वाद से जुड़ा होने के कारण सबका राम और साम से श्याम कहा गया है। राम के उच्चारण में षड्ज मध्यम सम्वाद है जिसका तात्विक विश्लेषण बहुत ही विस्तृत है। संक्षिप्त में 'रा' का उच्चारण रेचक प्रधान है, जिसमें अग्नि सूर्य वायु सहित सभी तत्व सान्निहित हैं। इस रेचक से सभी प्रदूषण बाहर निकलते हैं जिसको चन्द्रमा द्रुति गति से शुद्ध करता हुआ कुम्भकीय रूप में अन्तर्जगत् को भी शुद्ध करता है। सस्वर राम उच्चारण का यही फल है अर्थात् सा म ही राम है। साम ही कृष्ण है, साप शिव है।

मुख देश-एवम् घ्राण

गन्ध शब्द सु और दु से जुड़ा है। दु को रामोच्चारण व सामोच्चारण से सु में परिवर्तित करने का विधान है, यही वास्तविक भी है, और सबके लिये है। पन्थावलम्ब में तो अरगजा का आश्रय लिया जाता है, जिसके करते रहने पर भी दु का विस्थापन नहीं होता, क्यों कि जप-तप की तरह यह प्रभावकारी नहीं है यह सर्व साधारण के लिये ठीक है। अपने में दुर्गन्ध अपनी ही नासिका को ग्रहण करना पड़ता है। इसी प्रकार अन्य को भी परिणाम भुगतने पड़ते हैं।

जिह्वा

जिह्वा-शब्द, स्वर, और मन्त्र से जुड़ी हुयी है, इस प्रकार से किसी भी उच्चारण में जिह्वा, कण्ठ, तालु, मूर्धा, दन्त, ओष्ठ और नासिका इत्यादि सभी सक्रिय होते हैं। यही सब षड्ज स्वर के षड्जत्व से भी जुड़े हैं, अर्थात् षड्ज स्वर का षड्जत्व ही षड्ज स्वर का धर्म है, जो मुखदेशीय छः स्थानों व पृथ्वी, आप्त, अग्नि, वायु, आकाश, सूर्य, चन्द्र ग्रह नक्षत्र दिग्दिगान्तर तारागणों से सम्बद्ध है। यही षड्ज स्वर का धर्म व उसकी संस्कृति है और यही षड्ज

स्वर संगीतशास्त्र में वेदानुगत गीता के अनुसार 'अ' अर्थात् अकार नाम से जाना जाता है। भगवान श्री कृष्ण के अमृतमय वाणी के अनुसार यही गाया जाने वाला मूलाधार है, अनादि ब्रह्म का आदि मुरवरितोच्चारण है, जो अनुरणशील, सभी दोष विकारों को भस्मीभूत-सम्मोहित करने में सक्षम है और यही है "षड्भ्यः सञ्जायते षड्जः" जो मुखदेशीय छः स्थानों से सम्बद्ध है। इसी प्रकार से पाणिनि के अनुसार अच् समूहों में 'अ' ही प्रमुख है, और शेषउसी 'अ' की प्रजातियाँ हैं (और यहीं से राजा व प्रजा का भी सम्बन्ध स्थापित हुआ) 'अ' की प्रजातियों में अ, ई, ऊ, ऋ, लृ,, ए, ऐ, आे, औ, ये सभी स्वर हैं। जिस प्रकार से संगीत शास्त्रानुसार षड्ज स्वर पर अकार द्वारा अभ्यास करने के लिये अधिक बल दिया गया है, उसी प्रकार से 'अच्' की सभी प्रजातियों पर वर्णोच्चारण सहित सस्वर पाठ आवश्यक है। अचार्चिक दर्शन पद्धति में अच् समूहों की अनिवार्यता पर जो अधिक ध्यान दिया गया है उसका मूल कारण है कण्ठ देशीय षड्तन्तुओं के झंकृत होने व सहजाकार की प्राप्ति। चर्चित साधन पद्धति की साधन सारिणी भी दी गई है उसके अनुसार ही साधन करना श्रेयस्कर होगा और वैदिक आर्चिक पद्धति का गान केवल मानव ही नहीं करता कीट-पतंगादि पशु पक्षी सभी आर्चिक गान करते हैं। वही आर्चिक आज का ठहराव शब्द सम्बोध्य है। कीट भृङ्गी-भ्रमर गुञ्जन ध्वनि आर्चिकताका प्रमुख श्रोत है। कीट भृङ्गी अपने प्रभावकारी गुञ्जन से झेंगुर जैसे कीड़ों को जो कि कूद-कूद कर चलता है। उसको अपने ध्वनित मन्त्रोच्चारण से अपने जैसा बना कर उसे पंख प्रदान कर आकाश में विचरण के योग्य बना देती है। यह आर्चिक का प्रभाव है। आर्चिक एकाचकीय अर्थात एक स्थली है। क्योंकि कीट पतंगों में आरोहावरोह का अभाव होता है। इसके लिए मानव ही उपयुक्त है।

पशु-पक्षी, कीट-पतंगों में आर्चिकता स्वाभाविक है परन्तु साधन दृष्टि से मनुष्य का साधन सर्वार्चिक होता है।

कण्ठदेशीय षड्तन्तुयें

मुखदेशीय षड्तन्तुओं का सम्बन्ध अच् समूहों से है। केवल 'अ' से ही नहीं है। षड्तन्तुओं का झंकृत होना आवश्यक है। एकाचकीय साधन से षड्तन्तुयें झंकृत नहीं होती, वे कुन्द ही रह जाती है, और इस प्रकार से उनकी कुन्दता के कारण साधक का नीचे गिरना अर्थात् अधः पतन होना भी स्वाभाविक है। सर्वप्रथम विचारों से गिरना, अहारादि के सेवन में कुखाद्य और दुष्पाच्य की तरफ झुकना, संयम-निमय का न फलित होना, साधन में प्रदूषण की अभिवृद्धि, कामादि दोषों का अष्ट धातुओं में प्रवेश, दुष्प्रवृत्तियों में भ्रमण, भेदभाव व्यवसायिकता स्वर श्रुति से च्युतता जल तत्व की क्षीणता इत्यादि। इसके अतिरिक्त — "यथा मया गीयते तथान्यैर्नैव" अर्थात् जैसा मैं गाता बजाता हूँ वैसा कोई नही है। न गाता न बजाता न नाचता ही है जैसे अहं प्रधान भावों का अनुप्रवेश संगीतशास्त्र स्वर धर्म संस्कृति से पृथक और र वा वृत्त है।

स्वरों का माहात्म्य

स्वरों का माहात्म्य प्रभावकारी है वृत्तिदोष निरोधक है, और वह अपने में अखण्ड है। अच् समूहों के साथ वही देश की संस्कृति है। अखण्ड ज्ञान का मूल स्रोत है। चूँकि सृष्टि की एकता का ज्ञान स्वरों से अवभाषित है। इसके उच्चारण में पूरक प्राणायाम का अल्पतत्व अवश्य है, परन्तु कुम्भक व रेचक दोनो समकक्ष सबल और एक साथ है। यही स्वरोच्चारण की विशिष्टता है। स्वरों के अधीन रहने वाले वर्णों व शब्दों को गाया जाता है। स्वरों का भाषण नहीं होता, जो शब्द या जिसे महावाक्य कहते हैं, जो मन्त्रवत्

हैं, और जिसका स्वरों से ताल मेल है उनका सस्वर प्रवचन होता है। चीख-चिल्लाकर जिन शब्दों का भाषण किया जाता है, उसमें स्वर का संरक्षण नहीं होता। वह बेसुंरा होता है। उससे कण्ठ" जगत आहत हो जाता है।, यह सब जो कुछ भी होता है वह क्लेशदायक है। देश संस्कृति धर्म ज्ञान-सब को खण्ड खण्ड करने की घृणित योजना है। वह जनरव और शोर युक्त है।

एकता प्रवचन में है, गीता-मानस महाकाव्यों के स्वाध्याय में है, वेद-वेदान्त शास्त्र के चिन्तन व साधन में है।, संगीत के स्वरों में है। अनेकता खण्डता भाषणों में है। पर्यावरण को दूषित करने वाला भाषण मूल स्रोत है, और सबसे बड़ी विपदा है।, यही बात आरकेस्ट्रा की भी है। आरकेस्ट्रा ध्वनि प्रदूषण का मूल स्रोत हो चुका है। विश्वभर में। फिर भी आरकेस्ट्रा की धूम है जो धूम्र युक्त है।

स्वरों व शब्दों में मूल संस्कृति का निवास है, वैसे इसको कोई नष्ट नहीं कर सकता परन्तु भय तो पैदा ही कर सकता है। जिसने इसको नष्ट करने की "ठनी तो संस्कृति ने राम, कृष्ण, महाबली हनुमान, धनुर्धर अर्जुन तथा सीता, द्रौपती जैसी शक्तियों को प्रादुर्भूत कर दिया, और व्याख्या सहित परिचय कराने के लिए वाल्मीक, वेद व्यास, शंकराचार्य, महाकवि कालिदास तुलसी दास जैसे जन्मजा और तपजा को अवतरित-उत्पन्न कर दिया। यह सब कार्य संस्कृति अपने आप करती है इतना ही नहीं बढ़ते हुये दम्भी, पाखण्डी और अभिमानियों तथा मानवता से परे कार्य करने वाले विज्ञ, सक्षम, चतुर शस्त्रधारियों का मान मर्दन निज पुत्रों व शिष्यों से करा दिया। इन प्रमाणों से यह सिद्ध होता है कि संस्कृति कभी नष्ट होना नहीं जानती।

क्योंकि संस्कृति का मूल अच् समूह है, जिससे सब मन्त्र निकले हैं, जिससे सब स्वर निकलते हैं, जिससे वेद-वेदान्त काव्य निरुक्त छन्द

ज्योतिषशास्त्र की रचना होती है, जो दुष्प्रवृत्तियों व दुष्विचारों को क्षण भर में भस्म कर देने व बदल देने की शक्ति रखती है।

अतएव इस प्रकार से शब्द व स्वर की संस्कृति को समझने की चेष्टा करने वालों को यह अवश्य ही अवभाषित होता है कि वह सदा ही अभेद है। वही सबको भेद रहित बना सकती है। वही देश को गरिमा प्रदान करती है, गौरवान्वित करती है वही गीता के अनुसार राजविद्या है जिसकी पाँच भूमियाँ हैं, आनन्द, निरोध, संहार, सृजन और ज्ञान "राजविद्या पञ्चभूमयः"। यह राजविद्या क्रियात्मकता से जुड़ी है क्योंकि यह सतत् क्रियाशील है अतः अध्यात्म विद्याओं में सर्वश्रेष्ठ, (अक्षराणामकारः के अनुसार) अच्युत विद्या संगीत ही है, जिसका मूल शब्द व स्वर है, जो अन्तःकरण व मन को बदलने में सक्षम है, यही सत्पथ है। यह विद्या बरगलाती नहीं परिवर्तित करती है, सृष्टि की सत्यता का ज्ञान कराती है, जो मजहब रिलीजन सम्प्रदाय जैसे पन्थों से पृथक अस्पर्श योग है।

मजहब, पन्थ, सम्प्रदाय, रिलीजन सभी वृत्ति सूचक हैं, वृत्तियों का निरोध होता है। वृत्ति वही है जो संस्कृति का विरोध करती है, सदा विरोधी का निरोध होता है। जो वृत्ति वृत्तमान के अधीन रहती है, वही लक्ष्मी है, दुर्गा है, सरस्वती है। वृत्तिमान का विरोध करने वाली वृत्ति का निरोध हो जाने पर देश अखण्ड रूप में दिखाई पड़ता है। "को बड़ छोट कहत अपराधू" फिर छोटे-बड़े का कोई भेद नहीं रह जाता। इस प्रकार से वृत्ति को समझने के लिए वृत्ति रूप में जिसने सृष्टि और शक्ति का विरोध किया है उसी में रावण है, दुर्योधन है, कंस है। इस प्रकार से सभी वृत्तियों का निरोध कर देने वाला सब विवादों, आतंकों, तनाओं व दबावों कों निर्विवाद करने वाला शब्द स्वर समुदायों का प्रमुख अच् समूह के साथ उदीयमान सबका अपना अकार है, जो हर देशों का और देश की भाषाओ का प्रथम उच्चारण है। उसी

अच् की अभ्यर्थना अचार्चिक दर्शनशास्त्र व स्वरापात निवारण स्तोत्रम् में की गई है। जिसका सम्बन्ध स्वर साधन से जुड़ा है, जिसमें ज्ञान का प्रभाव, जप-तप के साधन का प्रभाव, ग्रह, नक्षत्र, सूर्य, चन्द्र, पृथ्वी, जल, अग्नि, वायु, आकाश दिशाओं की एकता का प्रभाव, चरितार्थ होता है। शब्द व स्वरोच्चारण में सूर्य चन्द्रादि के अतिरिक्त है ही कौन ? सबमें इन्हीं का तो योग है। मनुष्य नाम केवल यन्त्र है। यह सृष्टि अपनी विशिष्ट वैज्ञानिक भूमिका के साथ स्वयम् ही साश्चर्यवत् स्फुरित हो रही है। इसी ज्ञान की सत्यता को प्राप्त करने के लिए अचार्चिक दर्शनशास्त्र एवम् स्वरापात निवानण-स्तोत्रम् ताल, लय, राग, आलाप, तान अलंकारों के साथ तथा अनुष्टुप् छन्द, द्रुत विलम्बित छन्द, शिखरस्थ छन्द के अधीन १७ मात्रा, १६ मात्रा १२ मात्राओं के सहित प्रस्तुत है।

प्रस्तोता- विदुषामनुचरः
पं. त्रिवेणी प्रसाद त्रिपाठी
(कृपानन्द योगी)
लखनेपुर (लक्ष्मणपुर)
घनश्यामपुर, जि. जौनपुर

स्तुति प्रकरण

गोपीदुकूलचौराय दधिदुग्धहराय च।
यशोदाङ्कविहाराय कृष्णाकाराय ते नमः।।१।।

शिवाय पार्वतीपाय भक्तार्तापहराय च।
आशुतोषाय भक्तानाम् कल्पवृक्षाय ते नमः।।२।।

समाधौ येन विरतिः योगिभिः समवाप्यते।
ढक्कानादेनोपदेष्टे पाणिने सूत्रकारिणे।।३।।

वर्णोच्चारणशुध्यर्थमपकण्ठनिवारिणे।
भाषामन्दाकिनीनाथ! नमस्तुभ्यम् महेश्वर!।।४।।

मदीयम् हृदिस्थमपास्यं हिध्वाङ्क्षम्।
प्रभो त्वाम् विना कः समर्थ इदानीम्।

अतो स्वीयभक्त्या सदा प्रेरणीयम्।
यथा ग्रन्थपूर्णम् मदीयम् भवेच्च।।५।।

प्रभो शूलपाणे! त्वमेकम् निधानम्।
अतो ते च भक्त्या शिवेति गदन्ति।

गवाम् रक्षणम् युष्मदीयम् हि कार्यम्।
सदा रक्षणीयम् सदा रक्षणीयम्।।६।।

प्रांशु लभ्ये फले लोलुपः वामनः।
हस्तमुत्सार्य सः हास्यते चापरैः।
स नु एवम् विधः सस्पृहः सञ्चिकीः।
षड्जयोगासनम् विघ्नहीनम् यथा।।७।।

रसनाग्रे नरीनर्तु मानसहंसाधिष्ठिता।
शारदाम् शारदाम्भोजमुखीम् नौमि हृदि स्थिताम्।।८।।

लक्ष्मणप्रसादनामानम् गन्धर्वोपनामकम्।
संगीतकगुरूम् नौमि येन मार्गम् प्रदर्शितम्।।९।।

ग्रन्थप्रसूनभविष्यन्राजारामम् स्वकम् गुरूम्।
नौमि यत्कीर्तिकौमुद्या व्याप्तम् संगीतकम् जगत्।।१०।।

यस्याः सुस्नेहधारायामवगाहि पुनः पुनः।
हनुवन्ती प्रसिद्धा या नाम्ना मात्रे नमो नमः।।११।।

शाण्डिल्यगोत्रियम् विप्रम् लक्ष्मणपुरवासिनम्।
रामदेवाभिधानम् तम् नौमि स्वम् पितरम् गुरूम्।।१२

ढुण्ढिराजम् नमस्कृत्य कृपानन्दत्रिवेणिना।
विरच्यतेऽचार्चिकमदः यत्स्याद्विदुषाम्युदे।।१३।।

अचामधीनमल्सन्निधारणम्,
न तद्विनोच्चारणमपि विभाति।
अतो नवचार्चिकयज्ञसाधने
प्रारम्भयतेऽसौ च नवीनपद्धतिः।।१४।।

प्रचलिताधुनिकारीतिः सालङ्कृतिर्दूषिता।
लक्ष्यस्यैकदेशो हि व्याप्तिदोषः निगद्यते।।१५।।
नवाचकेष्वव्याप्तत्वादेषो दोषः प्रकाशितः।
अचार्चिककृताभ्यासः त्रिपाठिकुलशेखरः।
व्यातनोति "कृपायोगी" सर्वेषामात्मतुष्टये।।१६।।
शास्त्रस्यातिगम्भीरत्वात् स्यात्काचिदवधानता।
विद्वद्वर्गेण क्षन्तव्या हसिष्यन्ति हि दुर्जनाः।।१७।।
त्रिवेण्यां संगमे याते लुप्तोदा च सरस्वती।
प्राप्यतम् मानुषे देहे स्यन्दते मुखनिर्झरात्।।१८।।
नवाचानाम् यदासिद्धिः शुष्यन्ति सर्वतन्तवः।
त्र्यक्षरे च स्वरे सिद्धे नहि सिध्यन्ति कण्ठगाः।।१९।।
कण्ठापात निरूध्यर्थम् नवाचार्चिकमिष्यते।।
सर्वस्थानानि सिध्येयुः कण्ठवक्षःहृदादिषु।
नाभ्यारम्भ्यसहस्रारम् व्याप्नोति पुरुषम् परम्।।२०।।
प्राणवायुसमारब्धः नवाचाञ्चैव साधने।
सक्रियः स्यात्तदा सूर्यः गुरुत्वात्यभिकर्षणे।।२१।।

प्रथमप्रकरण

सस्वराचार्चिकाभ्यासैः सदा शुध्यंन्ति वर्णगाः।
श्लोकसूत्रस्वराश्चैव मन्त्रोच्चारणमेव च।।२२।।

अन्वय- वर्णगाः सदा सस्वराचार्चिकाभ्यासैः शुध्यन्ति श्लोकसूत्र स्वराः मन्त्रोच्चारणम् च (शुद्ध्यन्ति।

अर्थ- वर्णगत पद एवम् वाक्य दोष सस्वर आर्चिक अभ्यास से शुद्ध होते हैं तथा श्लोक पाठ सूत्रपाठ स्वरार्चन एवम् मन्त्रों के उच्चारण भी शुद्ध होते हैं।।२२।।

स्वरे क्षमा जलापातैरवरुध्यन्ति व्यक्तयः।
ग्रहाद्यापातमुक्तश्चेदग्निवायुप्रधानिकाः।।२३।।

अन्वयः— व्यक्तयः स्वरे क्षमाजलापातैः अवरुध्यन्ति। (यदि) ग्रहाद्यापातमुक्तः चेत् (तदा) अग्निवायुप्रधानिकाः।

अर्थः—अभिव्यक्तियाँ स्वरमें पृथ्वी एवम् जलके आपातों से अवरुद्ध हो जाती है। यदि वह ग्रह इत्यादि आपातों (दबावों) से रहित हो जाती है तो उस अभिव्यक्ति में अग्नि एवम् वायु की प्रधानता रहती है अर्थात् अग्नि एवम् वायु की प्रधानता में ही जलापातों से विमुक्ति सम्भव है। स्वर साधन में सहजता व प्रस्तुतीकरण तभी सम्भव भी है। वही प्रभावकारी क्लेश मुक्त साधन भी है।

प्रतिशतम् शराशीति क्षमाद्याः परिपातनम्।
गुरुत्वाकर्षणेऽसक्तः स्वयम् सूर्यः स्वरेचके।।२४।।

अन्वयः—(यदि) क्षमाद्या परिपातनम् शराशीति प्रतिशतम् तदा सूर्यः स्वरेचके गुरुत्वाकर्षणे स्वयम् अशक्तः (भवति)।।२३।।

अर्थः— पृथ्वी व जल का दबाव यदि ७५ से ८५ प्रतिशत रहता है तो सूर्य स्वयम् स्वरेचन रूप क्रिया अर्थात् अपने गुरूत्वाकर्षण में समर्थ नहीं हो पाता। अतः स्वरों के आरोहावरोह-अधः ऊर्ध्व गमन में अभिव्यक्ति क्लेश मूलक होती है।

सर्ववर्णसमाभ्यासैः मान्तमशुद्धस्वरम्स्मृतम्।
षण्मासाभ्यन्तरम् ज्ञेयमुत्तराङ्गम् ततः परम्।।२५।।

अन्वयः— सर्ववर्णसमाभ्यासैः मान्तम् शुद्धस्वरम् स्मृतम् (तत् स्वरम्) षण्मासाभ्यन्तरम् ज्ञेयम् ततः परम् उत्तराङ्गम् (ज्ञेयम्)।

अर्थः—सम्पूर्ण वर्णोंके अभ्यासों के द्वारा सस्वर वर्णार्चन पद्धति से पूर्वाङ्ग के मध्यम स्वर तक स्वराभ्यास करना चाहिये जिसको छः महीने तक प्रतिदिन प्रातः तम्बूरा वाद्य के साथ पाठ करना आवश्यक है तदुपरान्त उत्तराङ्ग में उसी शैली से क्रमशःतार सप्तक के षड्ज तक प्रवेश करना चाहिये। इस प्रकार के साधन से कंठापात क्षीण होने लगता है।।२५।।

ग्रहपाताधिभारम् वर्षान्ते निश्चितम् ह्रसेत्।
ईष्टापूर्तों यथा देवाः सर्वाचोऽघविनाशकाः।।२६।।

अन्वय—वर्षान्ते ग्रहपाताधिभारम् निश्चितम् ह्रसेत। यथा ईष्टापूर्तों देवाः अघविनाशकाःएवम् सर्वाचः (अघविनाशकाः)

अर्थ—ग्रहपातोंका अधिभार प्रस्तुत साधन शैली से धीरे-धीरे एक वर्ष में नष्ट होजाता है। जिस प्रकार इष्ट एवम् पूर्त के द्वारा प्रसन्न होकर देवगण अघोंका विनाश करदेते हैं उसी प्रकार कंठ से लेकर नाभि पर्यन्त तक सभी अवरोधक आपात आराधित अच् साधन पद्धति से नष्ट हो जाते हैं।२६।।

हतषड्जसमापातः तारेषु सहजायते।
कृष्णाकारः सदाशुद्धो व्याप्नोति स्वरसप्तकम्।।२७।।

अन्वय—हत षड्जसमाप्तः तारेषु सहजायते। सदाशुद्धः कृष्णाकारः स्वरसप्तकम् व्याप्नोति।

अर्थ—षड्ज पर जब सभी अभिपातों का विनाश हो जाता है तो तार सप्तक एवं मन्द्र के स्वरोच्चारण में सहजता आजाती है। सदा शुद्ध कृष्ण के रूपमें स्वयम् आकार (अकारो वासुदेवः स्यात्) स्वर सप्तकों को व्याप्त कर लेता है।२७।।

अचार्चिकम् विना नैव सम्भवेत् ग्रहमुक्तिकम्।
दृश्यते यदि लोकेषु तज्ज्ञेयम् चैव प्राकृतम्।।२८।।

अन्वयः—अचार्चिकम् विना ग्रहमुक्तिकम् नैव सम्भवेत्। यदि लोकेषु दृश्यते चेत् चैव प्राकृतम् ज्ञेयम्।

अर्थः—विना अर्चों की अर्चना किये ग्रहों से अर्थात् कंठापात विकारों से मुक्ति सम्भव नहीं है यदि संसार में कहीं सहजता सुनाई पड़ती है तो उसे प्राकृत समझना चाहिये क्यों कि प्राकृत सहजाकार जन्मजासिद्ध त्रिसप्तकीय होता है उसमें स्वर सम्वाद व कणमुरकगमकादि स्फुरण स्वयम् ही सहज स्फुरित होते हैं। उसमें किसी प्रकार का आपात नहीं होता। उस नाद में ८५ प्रतिशत अग्नि वायु की प्रधानता होती है।२८।।

यदीच्छामादृशोऽयम् स्यात् नोपायो तस्य कश्चन।
स्वरानुसाधनम् तत्र स्वभावेनोपपादितम्।।२९।।

अन्वय—अयम् मादृशः स्यात् यदि इच्छा (अस्ति) तस्य कश्चन उपाय न (अस्ति) (यतोहि) तत्र स्वरानुसाधनम् तेन स्वभावेन उपपादितम्।

अर्थ—यदि प्राकृत स्वर सिद्ध जो कि जन्मजा सिद्ध है वह यदि यह चाहे कि उसके प्रयास से उसके समान कोई उसके जैसा होजाय तो वह जन्मजा सिद्ध वैसे नहीं कर सकता क्योंकि उसकी आवाज का गठन क्रियाङ्ग विधियों

के साथ स्वयं प्रकृति ने किया है। वह आवाज स्वयम् के अभ्यास का फल नहीं है। प्राकृत आवाज प्राप्त व्यक्ति समुदाय को उसके व्याकरण का बोध नहीं होता क्योंकि प्रकृति अपना व्याकरण उससे गुप्त रखती है।२९।।

मुन्यृषि योगि ज्ञानीनामेषोपायो हि विद्यते।
अविदन्ब्रह्मविद्यायाम्परान्वोबोधितुमर्हति।?।।३०।।

अन्वय—एषोपायः मुनि ऋषि योगी ज्ञानीनाम् (अस्ति) ब्रह्मविद्यायाम् अविदन् परान्बोधितुमर्हति।

अर्थ—मुनि-ऋषि, ज्ञानी एवम् योगियों के लिये यह परम उपाय है। ब्रह्मविद्या के विषय में ज्ञान न रखता हुआ क्या दूसरों को बोध करा सकता है ?।।

टिप्पणी—ब्रह्मविद्यायाम् पद में वैषयिक सप्तमी है तथा परान् बोधितुमर्हति पद में काकु है। ध्वनि गति से जिसका अर्थ बदल जाता है उसे काकु कहते हैं।

यदि भवेत् ग्रहकण्ठनिपातनम्।
झटिति सिध्यति वर्णसमार्चिकम्।
रतस्वरान्तरसाधनलङ्कृतिः।
न क्षमते ग्रहापातनिरोधने।।३१।।

अन्वय—यदि ग्रहकण्ठ निपातनम् भवेत् (तदा) झटिति वर्ण समार्चिकम् सिध्यति। रत-स्वरान्तर-साधन-लङ्कृतिः ग्रहपात निरोधने न क्षमते।

अर्थ—यदि कण्ठ जगत से आपात का विनाश हो जाता है तो शीघ्रही वर्णो की अर्चना सिद्ध हो जाती है। स्वरान्तर साधन सम्बन्धी अलङ्कारावर्तन के द्वारा आपात निरोध सम्भव नहीं है।।३१।।

गीतायाम् सामवेदोऽस्मि चेत्येवम् कृष्णभाषितम्।
अक्षराणामकारोऽस्मि प्रस्तुते च प्रकाशितम्।।३२।।

अन्वय—गीतायाम् "सामवेदः अस्मि" इति च कृष्णभाषितम् (अस्ति) प्रस्तुते अक्षराणाम् अकारः अस्ति इति च प्रकाशितम्।

अर्थ—गीतामें "वेदों में मैं सामवेद हूँ" यह वाक्य कृष्ण ने कहा है। प्रस्तुत प्रकरण में ही अक्षरों में अकार हूँ यह भी कहा गया है।

नित्यमभ्यसनेनैव नवाचापातनाशनम्।
यत्र कण्ठग्रहापातः सूर्यशक्तेर्विकर्षणम्।।३३।।

अन्वय—नित्यम् अभ्यसने नैव नवाचापातनाशनम् (भवति) यत्र कण्ठ ग्रहापातः (तत्र) सूर्यशक्तेः विकर्षणम् (भवति)।

अर्थ—नित्य ही अभ्यास के द्वारा नवों अचों के आपात का विनाश होना सम्भव है। जहाँ पर कण्ठ ग्रह का आपात होता है वहाँ पर सूर्य की शक्ति का विकर्षण होता है।

प्रतिशतम् शराशीति वह्निवायौ समागते।
गुरूत्वाकर्षणम् भानोरधितत् स्वरसप्तके।।३४।।

अन्वय—वह्निवायौ शराशीति प्रतिशतम् समागते अधितत् स्वरसप्तके गुरूत्वाकर्षणम् (भवति)--

अर्थ—अग्नि एवम् वायु में ७५ से ८५ प्रतिशत प्रधानता आजानेपर अर्थात् पृथ्वी एवम् जल का अधःमुखी दबाव (आपात) २५ से १५ प्रतिशत ही रह जाने पर सभी सप्तकों व स्वरों के आरोहावरोह तानादि आलापों में सूर्य का गुरूत्वाकर्षण प्रभावी हो जाता है।

शराशा प्रतिशतम् सिद्धापातः सुररक्षसाम्।
तस्मात् खेचरणम् तेषाम् वह्निवाय्वोः प्रधानता।।३५।।

अन्वय—सुर- रक्षसाम् शराशाप्रतिशतम् सिद्धापातः वह्निवायो :प्रधानता, तस्मात् तेषाम् खेचरणम् (सिध्यति)।

अर्थ—देवों एवम् राक्षसों में पृथ्वी एवम् जलका आपातांश २५ से १५ प्रतिशत सिद्ध है। अग्नि एवम् वायु की प्रधानता भी ७५-८५ प्रतिशत सिद्ध है इसी कारण विशेष के आधार पर वे आकाश में विचरते रहते हैं। देवों में यह प्राकृत है।।३४।।

कृत्रिमश्चैषः दैत्यानाम् सहजोनाकवासिनाम्।
विसाधनात् पृथिव्यप्सु प्राधान्यम् चासुरेष्वपि।।३६।।

अन्वय—दैत्यानाम् एषः कृत्रिमः नाकवासिनाम् सहजः। पृथिव्यप्सु विसाधनात् असुरेषु अपि प्राधान्यम्।

अर्थ वायु और अग्नि की प्रधानता असुरों में साधन के द्वारा होती है तथा देवों में स्वाभाविक होती है। यदि असुर साधनहीन हो जाता है तो उसमें भी पृथ्वी जल का योग शरीर व कण्ठगत ७५ से ८५ प्रतिशत की प्रधानंता समझलेना चाहिये।

सहजावतारो हरिरात्ममायिनाम्,
विचेतसामुत्पथगमिनां च,
सत्वम् विशुद्धम् श्रयते तदा प्रभुः,
तितीर्षुकामः भववारिमज्जताम्।।३७।।

अन्वय—आत्ममायिनाम्, विचेतसाम् च उत्पथगामिनाम् भव-वारिंमज्जताम् तितीर्षुकामः सहजावतारः प्रभुः तदा विशुद्धम् तत्वम् श्रयते।

अर्थ—अपनी माया फैलाने वाले, व्यग्र-चित्त वाले-शास्त्रीय मार्ग का अतिक्रमण करनेवाले भवरूपी जलमें निमग्न होने वाले को पार करने की

आकाङ्क्षा से प्रभु शुद्ध सतोगुण प्रधान स्वर साधन स्वीकार करते हैं।

प्रचलिता यदि भानव नाडिका।
अनलवायु प्रधान स्वरार्चिका।।
दिनप—रेचक—रेचन विक्रियः
स्वरविधौ नहि क्ष्मापवरोधनम्।।३८।।

अर्थ —स्वर साधन के समय या उपरोक्त अवस्था की प्राप्ति के लिये यदि सूर्य नाड़ी चलती रहती है तो स्वरार्चन प्रद्धति में अग्निवायु की प्रधानता होती है। अर्थात् अग्निवायु ७५ से ८५ प्रतिशत में होने से कंठ जगत् सहज होजाता है। इसी को मानव में देव प्रधान आवाज कहा गया है। सूर्य की रेचकता शक्ति से रेचन क्रिया के द्वारा विकृती को प्राप्त हुये स्वर विधि में पृथ्वी व जल का अधःमुखी दबाव अथवा अवरोध नहीं रह जाता। पृथ्वी व जल का मापदण्ड २५ से १५ प्रतिशत में हो जाता है जिन साधकों में जन्मजा व साधन द्वारा प्राप्ति होगयी है उन्हीं का गायन प्रसारण व सांधन क्लेश मुक्त होता है। पितृ देवगण ग्रह नक्षत्र पर्यावरण सबमें सन्तुलन व पशु-पक्षी सभी प्रसन्न मुद्रा में दिखाई पड़ते हैं।

समवप्राप्य सदा शशिनाडिकाम्।
जलधरेऽति विमार्गणदूषिते।।
तदवरोधन—साधन—पद्धतौ
नहि कुतश्चन सिद्धिमवाप्यते।।३९।।

अर्थ—हमेशा चन्द्र नाड़ी को प्राप्त करके पृथ्वी जल तत्व अपने मार्ग का त्याग करके असंयमित हो ज़ाते हैं। विचारों में गिरावट ही इसका मूल कारण है। अर्थात् सुविचार सन्तुलन विशेष प्रभावकारी है। स्वराभ्यास शास्त्रार्थ वप्रवचनके समय पृथ्वी जल का आपात प्रभावी रहना अन्तःकरण

की अशुद्धि को सूचित करता है जो साधन में विघ्न है अतः ऐसे साधकों को सिद्धि की प्राप्ति नहीं हो पाती।

जङ्गम्यते योहि नवाचसाधने,
सच्छास्त्रमूले परिभूयमानः,
तच्छर्वसंपूर्णक्रियाकलापम्
शोशुध्यते येन विशुद्धचक्रम्।।४०।।

अन्वय—सच्छास्त्र[1] मूले[2] परिभूयमानः यः नवाचसाधने जङ्गम्यते। तत् शर्व सम्पूर्ण क्रिया-कलापम्। येन विशुद्धचक्रम् शोशुध्यते।

अर्थ—सत् शास्त्रके मूल नवाच् साधन में जो बार-बार गतिशील रहता है उसमें शिव जी की महती अनुकम्पा समझनी चाहिये क्यों कि विना उनकी क्रिया कलाप के साधन क्षेत्र में प्रवेश पाना असम्भव है। विशुद्ध चक्र भेदन सहित मुखदेशीय कण्ठ जगत् की संशुद्धि शिव कृपा से ही सम्भव है। विशुद्ध चक्रभेदनोपरान्त ही एकाकार की प्राप्ति होती है। ।।४०।।

कथितम् साधनम् पूर्वम् प्रभविष्णुतमम् स्मृतम्
पापठेयुः सदा भक्त्या येन शम्भू प्रसीदति।।४१।।

अन्वय—पूर्वम् साधनम् कथितम् (यत्) हि प्रभविष्णुतमम् स्मृतम्। (इदम्) सदा भक्त्या पापठेयुः येन शम्भूः प्रसीदति।

अर्थ—इसके पूर्व में साधन बताया गया है जो महान् प्रभावकारी है। इसे भक्तिपूर्वक पाठ करना चाहिये क्यों कि इसके द्वारा शिवजी प्रसन्न होते हैं तथा साधक को सिद्धि प्रदान करते हैं।

न मूलदेशे प्रविशन्त्यनार्चिकाः,
अनाहतानादविकारहीनाः,
विकारयुक्तैरपि प्राकृतैस्तै-
रवाप्यते नैव च तेऽनुरागिभिः।।४२।।

अन्वय—अनार्चिकाः मूलैदेशे- न प्रविशन्ति (यतो हि) अनाहतआनाद विकारहीनाः विकारयुक्तैः अपि तैः प्राकृतैः ते (नवाच्काः) अनुरागभिः नैव अवाप्यते।

अर्थ—अनार्चिक अर्थात् अच् साधन पद्धति को न जानने वाले मूल देश में प्रवेश नहीं करपाते। यदि विकार से युक्त होने पर भी मूल देशमें प्रवेश कर रहा है तो उसे प्राकृत समझना चाहिये। उस व्यक्ति से अनुराग रहने पर भी उस जैसे प्रकृत दशा को वह नहीं प्राप्त कर सकता क्यों कि उसपर प्राकृत कृपा है पर युक्ति की उसमें पकड़ नहीं होती। यही कारण है कि अपने जैसा अन्यको प्रसादित नहीं कर सकता।

अत एव ते षडज् विकारहेतवः।
विनाशनीयाश्च नवाच-साधने।।
संगीतमूलम् हि विशुद्धनादे।
प्रवेशनम् तत्र न प्राप्यतेऽन्यथा।।४३।।

अन्वयः—अत एव नवाच् साधने ते षड्ज विकारहेतवः विनाशनीयाः विशुद्धनादे हि संगीतमूलम् अन्यथा तत्र प्रवेशनम् न अवाप्यते।

अर्थ—इस षड्ज विकार विनाश शैली को शिव जी अपने मुँह से साक्षात् रूपमें कहा है। अतः परा वाणी में विश्वास सहित प्रयासरत रहना चाहिये। यदि कोई उसके ज्ञान से शून्य है तो वह शून्य स्वयं ही है और उसका जीवन भी शून्य हो जाता है।४१।।

आशुतोषेनेदम् प्रोक्तम्।
परावाचि सदा यतेत्।।
तच्छून्येन शून्यः स्यात।
तस्य जन्म निरर्थकम्।।४४।।

अन्वय—इदम आषुतोषेन प्रोक्तम्। (अतः) परावाचि सदा यतेत्। तत् शून्येन शून्यः स्यात् तस्य जन्म निरर्थकम्।

अर्थ—इस षड्ज विकार विनाश शैली को शिवजी ने अपने मुँह से साक्षात् रूप में कहा है। अतः परा वाणी में विश्वास सहित प्रयासरत रहना चाहिये। यदि कोई उसके ज्ञान से शून्य है तो वह शून्य स्वयं ही है और उसका जीवन भी शून्य हो जाता है।।४१।।

समेषाङ्कारणम् विन्दुः योऽभिव्यक्तेः प्राग्भवेत्।
विन्दुरेवाक्षरम्ब्रह्म तद्धीनम् वैकृतम् भवेत्।।४५।।

अन्वय—सर्वेषाम् (स्वरादीनाम्) कारणम् विन्दुः यः अभिव्यक्तेः प्राक् भवेत्। विन्दुः एव अक्षरम् ब्रह्म। तद्धीनम् वैकृतम् भवेत्।

अर्थ—सभी स्वरादिकों का कारण शिवस्वरूप नाद विन्दु है जिसकी सत्ता वर्णाभिव्यक्ति के पूर्व रहती है । वही कभी न नष्ट होने वाला अक्षर ब्रह्म है। उसके अतिरिक्त अर्थात् जिसकी अभिव्यक्ति होती है वह उसी की कृति है दूसरे शब्दों में उसी को वैकृत भी कहते हैं।

टिप्पणी—अक्षर ब्रह्म या नाद विन्दु अनादि सनातन है। अनादि ब्रह्म की शक्ति प्रकृत है जो क्रियाशील रहती है। उसकी क्रियाशीलता के आधारपर ब्रह्म को निष्क्रिय कहा गया है। पर जिसे निष्क्रिय कहा गया है उसीमें विवेक होता है जिस आधार पर उस अनादि ब्रह्माक्षर को नित्य शुद्ध बुद्ध मुक्त व ज्ञान स्वरूप कहा गया है। अतः प्रकृत शब्द का संबन्ध क्रियाशीलता से है तो अनादि ब्रह्म का संबन्ध विवेक से है।४२।।

विन्दूर्ध्वमाहतम् ज्ञेयमनाहतञ्च ततः परम्।
निष्क्रियमजमव्यक्तम् परमाकाशानाश्रितम्।।४६।।

अन्वय—विन्दूर्ध्वम् आहतम् ज्ञेयम् ततः परम् अनाहतम् (ज्ञेयम्) (तद्नाहतम्) निष्क्रियम्, अजम्, अव्यक्तम् परमाकाशानाश्रितम्।

अर्थ—नाद विन्दु से ऊपर अर्थात् जिसकी अभिव्यक्ति हो रही है उसे ही आहतनाद समझना चाहिये इसके अतिरिक्त आहत से परे अर्थात् जिसकी अभिव्यक्ति को कोई योगी साधक ही सुन सकता है सर्वसामान्य नहीं, वही अनाहत नाद है उसे ही अनाहत नाद समझना चाहिये। वही निष्क्रिय अज अव्यक्त, अस्पर्श योग परमाकाश से भी अनाश्रित विवेकशील है।

उदात्तानुदात्तस्वरितादिभेदै-
र्ध्वने विभेदः स च शास्त्रसिद्धः।
सत्यस्य सिद्धिर्नैवानुमानिकैः।
यतोऽनुमानम् तमसावृतम् भवेत्।।४७।।

अन्वय—उदात्तानुदात्तस्वरितादिभेदैः ध्वनेर्विभेदः स च शास्त्रसिद्धः। सत्यस्य सिद्धिः अनुमानिका न यतो हि अनुमानम् तमसावृतम् भवेत्।

अर्थ—उदात्त, अनुदात्त, स्वरित आदि भेदों से ध्वनि का भेद शास्त्रसम्मत है। सत्य की सिद्धि अनुमान के द्वारा नहीं होती क्योंकि अनुमान अज्ञान से ढ़ँका रहता है। अर्थात् उसका साक्षात्कार नहीं होता किन्तु केवल अन्दाज के बल पर ही किसी तत्व को सिद्ध करने का प्रयास करते हैं।

वस्त्रावृताक्षो यदि कश्चिदाव्रजेत्।
उच्चावचाभूमिमलक्ष्य संपतेत्।
तथैव व्याप्त्या विशिष्टमर्शनात्।
नैवावाप्यते तच्च विशिष्टमार्गम्।।४८।।

अन्वय—यदि कश्चिद् वस्त्रावृताक्षः आव्रजेत् (सः) उच्चावचाभूमिम् अलक्ष्य सम्पतेत्। तथा व्याप्त्यादि विशिष्टमर्शनात् तत् विशिष्टमार्गम् न एव अवाप्यते।

अर्थ—यदि कोई आँख पर पट्टी बाँध कर चलता है तो वह ऊँची नीची भूमि को न देख कर अवश्य ही गिरेगा। उसी प्रकार से व्याप्ति के परामर्श

से उत्पन्न अनुमान के द्वारा वह विशिष्ट मार्ग प्राप्त नहीं किया जा सकता। क्यों कि अनुमान कार्य को प्रत्यक्ष देखने के पश्चात् अप्रत्यक्ष कारण में अनदेखे आरोपित होता है। इन्द्रियजन्य ज्ञान अनुमानित ज्ञान है क्रियात्मक ज्ञान अनुमान से परे साधन योग भक्ति स्वाध्याय चिन्तन परक है।

आस्यानुभूताः षड्तन्तु-झङ्कृताः।
आन्दोलिताश्चाखिलकायसंस्थिताः।
सप्त-स्वराः स्युर्यदि ते ह्यनार्चिकाः।
न सिद्धिदाः किन्त्वपकण्ठ-सूचकाः।।४९।।

अन्वय—षड्तन्तुझङ्कृताः अस्यानुभूताः अखिलकाय संस्थिताः आन्दोलिताश्च। सप्तस्वराः यदि ते अनार्चिकाः स्युः न सिद्धिदाः किन्तु अपकण्ठ सूचकाः।

अर्थ—(मुखदेशीय) छः स्वर तन्तुओं को झङ्कृत करने वाले मुखदेशमें अनुभूत सम्पूर्ण शरीर में व्याप्त होकर (नाभि प्रदेश से) आन्दोलित सप्त स्वर यदि आर्चिक पद्धति से अभ्यस्त नहीं किये हैं तो वे सिद्ध नहीं हो पाते किन्तु केवल अपकण्ठ को ही सूचित करते हैं। अर्थात् कण्ठगत अप यानी दोष विकारयुक्त एवम् क्लेश को ही प्रकट करते हैं।४६।।

यदि ज्ञानगम्यम् हि क्रियात्मकम् भवेत्।
श्लाघ्यम् च सिद्धिम् तदु सप्तवृन्दकम्।
न चान्यथा ज्ञानक्रियात्मके सति।
न सिद्धिमाप्नोति स कामकामी।।५०।।

अन्वय—यदि ज्ञानगम्यम् सप्तवृन्दकम् क्रियात्मकम् भवेत् (तदा) तदु श्लाघ्यम् सिद्धम् च। अन्यथा ज्ञानक्रियात्मके न सति सकामकामी सिद्धिम् न आप्नोति।

अर्थ—यदि स्वर सृष्टि परम्परानुगत् ज्ञान सहित प्राप्त किया हुआ संप्त शुद्ध एवम् विकृत स्वरों की सिद्धि प्राप्त हो जाती है तो वही प्रशंसनीय स्तुतियोग साधनसिद्ध होता है। भाव यह कि उसी के द्वारा आकाश देश में प्राप्त पर्यावरण दोष इत्यादि आपात छँट जाते हैं। ज्ञान एवम् क्रिया साधन के अन्यथा होजाने पर अर्थात् तारतम्य परिवर्तित हो जानेपर यदि क्रियात्मक न हुआ तो कामना का इच्छुक व्यक्ति सिद्धि प्राप्त नहीं कर सकता और वह पर्यावरण में दोष वृद्धि का एक उदाहरण बन जाता है। साधन क्षेत्र में जब तक शान्ति, सन्तुष्टि व प्रसन्न मुखविलास का दिग्दर्शन न होजाय तबतक उसकी प्राप्ति में साधक को सचेष्ट एकाग्र होने का प्रयास करते रहना चाहिये।

न मानसास्ते स्वरितादयः क्वचित्।
क्रियात्मकाः हि सतताभिभ्यासिताः।
शुद्धस्वराः वैकृतिकाश्च वास्युः।
सुशोभिरे वादिततानपूरकैः।।५१।।

अन्वय—ते स्वरितादयः क्वचित् न मानसाः (किन्तु) सतताभिभ्यासिताः क्रियात्मका हि। शुद्धस्वराः वा वैकृतिकाः स्युः(ते) वादित तानपूरकैः सुशोभिरे।

अर्थ—वे स्वरित आदि अर्थात् उदात्त, अनुदात्त एवम् स्वरित 'मानस' नहीं होते किन्तु सतत अभ्यास किये गये क्रियात्मक होते हैं। शुद्ध स्वर हों या विकृत हों सबकी शोभा तानपूरे पर ही सम्भव है क्यों कि कण्ठापात को क्षीण करने वाला शक्ति से युक्त वही एक प्रमुख वाद्य यन्त्र है।४८।।

चिरत्नम् स्वरसम्वादम् श्रुतीनाञ्च निरीक्षणम्।
सम्भवः सतताभ्यासे प्रत्यहनि प्रातरेव च।।५२।।

अन्वय—स्वर-सम्वादम् श्रुतीनाञ्च निरीक्षणम् प्रत्यहनि प्रातः एव च सतताभ्यासे सम्भवः।

अर्थ—स्वरों का सम्वाद एवम् श्रुति-निरीक्षणकी पद्धति प्राचीनतम है। प्रति दिन प्रातःकाल निरन्तर शुद्ध स्वर साधन आवश्यक है। स्वर ज्ञान अभ्यास पर ही निर्भर है।

तेन शुद्धस्वराभ्यासः विकृताश्च पराधके।
शुद्धविकृतयोर्योगे जायते रागनादजः।।५३।।

अन्वय—तेन शुद्ध स्वराभ्यासः (कर्त्तव्यः) (तथा) विकृताः परार्धके (अभ्यसितव्याः) शुद्ध-विकृतयोर्योगे रागनादजः जायते।

अर्थ—अतः सर्व प्रथम अचार्चिक पद्धति के अनुसार वर्णार्चनोपरान्त शुद्ध स्वर का साधन प्रातः करना चाहिये एवम् विकृत स्वरों का राग के अन्तर्गत अपराह्न अथवा शुद्ध स्वर साधनोपरान्त करना चाहिये। शुद्ध व विकृत के योग से राग बनता है। साधन शुद्ध स्वरों का ही होता है अभिव्यक्ति अथवा प्रस्तुतीकरण राग का होता है। शुद्ध स्वर साधन सिद्धि के बाद विकृत स्वरों के स्थान स्वयमेव दिखाई पड़ने लगते हैं। इसलिये जबतक त्रिसप्तकीय एकाकार की प्राप्ति न होजाय तबतक रागों के भ्रमजाल में साधक को नहीं पड़ना चाहिये।

टिप्पणी—पूर्वार्ध व परार्ध शब्द यहाँ उपलक्षण मात्र है। जैसे शुद्ध स्वर-साधन के तुरन्त बाद ही विकृत स्वरों से सम्बन्धित साधन नहीं करना चाहिए। एक घण्टे के अन्तराल पर ही रागादिकों का प्रसारण उचित है नहीं तो कंठ-विकार निरोध व नासिकावरोध संयमित नहीं होता।

प्रदर्शनाय लोकानाम् न सिद्धिर्नापुनर्भवम्।
प्रयुज्यन्ते स्वराः शुद्धाः दैनिके कार्यसाधने।।५४।।

अन्वय— (इति) लोकानाम् प्रदर्शनाय (तेन) न सिद्धिर्भवति न च अपुनर्भवम् (आप्नुते) दैनिके कार्यसाधने शुद्धाः स्वराः प्रयुज्यन्ते।

अर्थ—इस प्रकार जो केवल राग का प्रस्तुतीकरण अपनी प्रशंसा के लिये अपकण्ठ अवस्था में करते हैं। अचार्चिक पद्धति का अनाश्रय करके अपसे जुड़े रहते हैं उससे न तो उसे सिद्धि मिलती है और नहीं शान्ति व मुक्ति। इसलिये अचार्चिक अभ्यास ही दैनिक कार्य साधन की संरक्षण भूमि है जिसके साधन से ही कण्ठ का आपात नष्ट हो सकता है।

एतदेवाद्वयानन्दम् प्रोक्तंब्रह्मसनातनम्।
अनुस्वरं सदारागाः तस्माच्छुद्धस्वरम् भजेत्।।५५।।

अन्वय— एतदेवाद्वयानन्दम् ब्रह्म-सनातनम् प्रोक्तम्। रागाः सदा अनुस्वरम् तस्मात् शुद्धस्वरम् भजेत्।

अर्थ—यही अद्वय-आनन्द सनातन ब्रह्म कहा जाता है। राग हमेशा स्वर विन्दु से न्यून रहता है अर्थात् राग प्रतियोगिक स्वर में प्रधानता रहती है। अतः शुद्ध स्वर का ही अनुसरण सदा करते रहना चाहिये।

स्वरतोवर्णतश्चैव नापशब्दम् समुच्चरेत्।
एतद् व्याप्याखिलाकाशे लोकान्न दूषयिष्यति।?।५६।।

अन्वय—स्वरतः वर्णतः च अपशब्दम् न समुच्चरेत्। एतद् (अपशब्दम्) अखिलाकाशे व्याप्य लोकान् न दूषयिष्यति ?

अर्थ—स्वर से या वर्ण से दूषित अप शब्द का उच्चारण भरसक अपनी जानकारी में कभी नहीं करना चाहिये। यह अपशब्द व स्वरोच्चारण संपूर्ण आकाश में व्याप्त होकर क्या संसार को दूषित नहीं करेगा? अर्थात् भेदभाव, पक्षपात् ईर्ष्या-द्वेष, कटुंता, क्लेश, हिन्सा, अवश्य ही बढ़ेगा।

पर्यावरणदोषेण सर्वे यान्त्यधमाङ्गतिम्।
स्वरदोषेण रक्षांसि न प्रापुः परमाङ्गतिम्।।५७।।

अन्वय—पर्यावरणदोषेण सर्वे अधमाम् गतिम् यान्ति। स्वरदोषेण रक्षांसि परमां गतिम् न प्रापुः।

अर्थ—पर्यावरण दोष से सभी अधम गति को प्राप्त होते हैं। स्वर के ही दोष से राक्षसगण यज्ञ करते हुये भी परम गति को प्राप्त नहीं हुये।

पापत्यमानापि विहन्यते व्यथा।
नवार्चिकानाम् सहजानुनादिनाम्।
ये सामवेदाभ्यसने सदारताः।
न दूष्यते वाक्स्वरसिद्धिसाधने।।५८।।

अन्वय—नवार्चिकानाम् सहजानुनादिनाम् पापत्यमानापि व्यथा विहन्यते। ये सामवेदाभ्यसने सदारताः (तेषाम्) वाक् स्वरसिद्धिसाधने न दूष्यते।

अर्थ—नवार्चिकों के सहज अनुरणन में लगे रहने वालों में बार-बार पड़नेवाली व्यथायें नष्ट होजाती हैं। जो लोग सामवेद के अभ्यास में सदा लगे रहते हैं स्वरसाधन के प्रभाव से उनकी वाणी कभीभी दूषित नहीं होती। यही सृष्टि में महत्संग है।

शब्दज्ञाने भवेद्धर्मोऽपशब्दज्ञानेऽघायते।
अपदन्न प्रयुञ्जीत भाष्य उक्तम् महर्षिणा।।५९।।

अन्वय—शब्दज्ञाने धर्मो भवेत्। अपशब्द-ज्ञाने अघायेत। महर्षिणा भाष्ये उक्तम् (यत्) अपदन्न प्रयुञ्जीत।

अर्थ—शब्दों के ज्ञान से धर्म होता है। धर्म सम्वर्धन से राष्ट्र में एकता होती है। अपशब्द ज्ञान से अधर्म एवम् आतंक की अभिवृद्धि होती है। महाभाष्यमें महर्षि पातञ्जलि ने कहा है कि अपद का प्रयोग प्रचार नहीं करना चाहिये। यदि ऐसा हुआ तो देश में अतिरेक की वृद्धि सम्भावित है।

एकस्य साधुशब्दस्य भूयांशोऽपशब्दकाः।
कूपखानकन्यायेन साधुशब्दात्सुरायते।।६०।।

अन्वय—एकस्य साधुशब्दस्य भूयांसः अपशब्दकाः, भवन्ति। कूपखानकन्यायेन साधु-शब्दात् सुरायते।

अर्थ—एक साधु शब्द के बहुत से अपशब्द हो सकते हैं। बहुत अपभ्रंश होने के कारण पाप भी अधिक ही होता है। किन्तु कूप खानक न्याय से साधु शब्द का प्रयोग करता हुआ देवों की तरह आचरण करने लगता है।

टिप्पणी—कूपखानकन्याय--जिस प्रकार कुँआ खोदने वाले कीचड़ में सने जाने से उसी कुयें से निकलने वाले जल में स्नान करके स्वच्छ हो जाते हैं। उसी प्रकार साधु शब्द से शुद्ध होकर लोग देवों की तरह से आचरण करने लगते हैं। साधु शब्द शुद्धोच्चारण को सूचित करता है। उसी प्रकार संगीत जगत् में ज्ञेय पदों व तान आलाप कण मुरक गमक मीड़ आदि क्रिया विधियों की अभिव्यक्ति व साधन में किसी भी प्रकार का कण्ठ जगतमें तनाव दबाव क्लेश होता है तो वह आपातवत् ही है साधुता से उसका ताल-मेल नहीं माना जा सकता। इसलिये साधन की चरम सीमा ही साधु शब्द से जुड़ता है या प्राकृत से।

तस्मात्सर्वेषु यज्ञेषु साधुमन्त्रम् समुच्चरेत्।
अपमन्त्रप्रयोगेण यान्ति ते यमयातनाम्।।६१।।

अन्वय—तस्मात् सर्वेषु यज्ञेषु साधुमन्त्रम् समुच्चरेत्। अपमन्त्रप्रयोगेण ते यमयातनाम् यान्ति।

अर्थ—अतः सभी यज्ञों, अनुष्ठानों, साधनों में साधु मन्त्रों का उच्चारण करना चाहिये। साधु मन्त्र से तात्पर्य सस्वर अचार्चिक साधन पद्धति से है यदि अप से जुड़े हुये मन्त्रों का उच्चारण किया जाता है तो उससे यम-यातना मिलती है।५८।।

षड्जपंञ्चमभावानाम् श्रुतिसम्वादज्ञानिनाम्।।
प्राधान्यम् सर्वमन्त्रेषु चान्यथापातपातनम्।।६२।।

अन्वय—सर्वमन्त्रेषु षड्ज पञ्चम भावानाम् श्रुति सम्वाद-ज्ञानिनाम् प्राधान्यम् अन्यथा आपातपातनम् (भवति)।

अर्थ—सभी मन्त्रों में षड्ज पञ्चम अथवा षड्ज मध्यममाव एवम् श्रुति सम्वाद के ज्ञान की प्रधानता है। अथवा उस मन्त्र में आपात आकर पड़जाने के कारण निरर्थक हो जाता है। इसलिये उनकी शुद्धि हेतु स्वर ज्ञान आवश्यक है।

तज्ह्रांसम् निराकर्तुन्नवाचसाधनमिष्यते।
मयोक्तम् पूर्वयोगेषु ततो तस्मिन्सदा यतेत्।।६३।।

अन्वय—तत् ह्रासम् निराकर्तुम् नवाच्साधनम् इष्यते। पूर्वयोगेषु मयोक्तम् ततः तस्मिन् सदा यतेत्।

अर्थ—कंठापात के ह्रास का निर्णय करने के लिये नवाच् साधन की महती आवश्यकता है। पूर्व योगों में मैंने इसका निरूपण किया है अतः उसमें प्रयत्न रत रहना चाहिये।

यतमानः सदायोगी परम ब्रह्माधिगच्छति।
शास्त्रास्तक्रमान्नाशः तस्मात् तत्र समुत्सृजेत्।।६४।।

अन्वय—योगी सदा यतमानः परमब्रह्माधिगच्छति। शास्त्रातिक्रमात् नाशः तस्मात् तत् न समुत्सृजेत्।

अर्थ—योगी हमेशा मानसिक प्रयास करता हुआ तथा क्रियांग विधियों के साथ साधन करता हुआ परम ब्रह्म को प्राप्त करता है। शास्त्र का उल्लंघन करने से सब कुछ नष्ट होजाता है। अतः शास्त्र का अतिक्रमण एवम् उसका त्याग जीवन में देश, परिवार, समाज सबके लिये घातक है।

यदि कश्चित् वदेत्तत्र नावश्यम् मन्त्रसाधने।
स्वरितानुदात्तादिः प्राकृतम् कथनम् यतः।।६५।।

अन्वय--यदि कश्चित् तत्र (तस्मिन् विषये) वदेत् यत् मन्त्रसाधने न आवश्यम्। यतः स्वरितानुदात्तादेः कथनम् प्राकृतम्।

अर्थ—यदि कोई इस विषयमें यह कहे कि मन्त्र साधन में स्वरित अनुदात्त आदि अर्थात् उदात्त अनुदात्त एवम् स्वरित का कथन स्वाभाविक है वह अपने आप होता रहता है साधन की आवश्यकता नहीं है ऐसा कहना शास्त्र विरूद्ध है।

एवम् तैर्न वक्तव्यम् संस्कारा: परमावश्यका:।
त्यज्याश्चैतादृशा: शब्दा: पवमाना: पुन: पुन:।।६६।।

अन्वय—तै: एवम् न वक्तव्यम् संस्कारा: परमावश्यका:। एतादृशा: शब्दा: (संस्कारविहीना: शब्दा:) पुन: पुन: पवमाना: (अपि) त्याज्य:।

अर्थ—उनलोगों को ऐसा नहीं कहना चाहिये क्यों कि संस्कार परमावश्यक है। भाष्यकार ने भी कहा है कि "संस्कारेण धर्मनियम:" अर्थात् संस्कार किये हुये शब्द से ही धर्म की प्राप्ति होती है। यदि संस्कारित शब्द नहीं है तो बार-बार पवित्र किये जाने पर भी अपवित्र है अर्थात् प्रयोग करने के योग्य नहीं है।।६३।।

स्वरावरोहणज्ञानम् समारोहम् तथा परम।
स्थानच्युतिर्निरस्थानम् सहजं नैव सम्भवेत्।।६७।।

अन्वय—स्वरावरोहणम् तथा परम् समारोहम् स्थानच्युति: निरस्थानम् सहजं नैव सम्भवेत्।

अर्थ—स्वरों के आरोहावरोह का ज्ञान स्थान च्युति जो उचित स्थान पर उच्चरित न हो इनका कथन स्वाभाविक रूपसे सम्भव नहीं है। इसके लिये शास्त्र के द्वारा संस्कार आवश्यक है। अन्यथा अधम की प्राप्ति होगी जिससे अधोगति निश्चित है। एतदर्थ शास्त्रीय साधन में संस्कार अवश्यक है।।६४।।

सप्तके ते च सिध्येरनन्यथा पातनम् महत्।
शुद्धवैकृतके ह्येवम वाद्यादिषु समभ्यसेत्।।६८।।

अन्वय—ते च सप्तके सिध्येरन् अन्यथा महत् पातनम् (भविष्यति) एवम् शुद्धवैकृतके वाद्यादिषु समभ्यसेत्।

अर्थ—इस प्रकार उन मन्त्र पाठियों एवम् संगीत गायकों वादकों, को त्रिसप्तकीय स्वर ज्ञान प्राप्त करना चाहिये अन्यथा पतन अवश्यम्भावी हो जायगा। अतः शुद्ध एवम् विकृत स्वरों का ज्ञान तार वाद्य पर ही सम्भव है इसका निरन्तर अभ्यास करना चाहिये। इसीमें एकता है। यही ज्ञानपरक साधन है।

लौकिकाः लोकतः सिद्धाः वैदिकाश्च पुनः श्रुतौ।
किमर्थम् व्याकरणम् शास्त्रमिति शंका यदोत्थिता।।६९।।

अन्वय—लौकिकाः (शब्दाः) लोकतः सिद्धाः वैदिकाश्च पुनः श्रुतौ सिद्धाः (तस्मात्) व्याकरणशास्त्रम् किमर्थम् यदा इति शंका उत्थिता।

अर्थ—लौकिक शब्द लोक से सिद्ध है तथा वैदिक शब्द वेद से सिद्ध है पुनः व्याकरण शास्त्र की क्या आवश्यकता? इस प्रकार की शंका जब महाभाष्य में उठी।

शब्दसंस्कारवृत्यर्थमिति शास्त्रप्रयोजनम्।
अपसंस्कृताः शब्दाः पातकाः नरकेऽशुचौ।।७०।।

अन्वय—शब्दसंस्कारवृत्यर्थं इति शास्त्रस्य प्रयोजनम्। अपसंस्कृताः शब्दाः अशुचौ नरके पातकाः।

अर्थ—शब्दों के संस्कार के लिये व्याकरण शास्त्र की महती आवश्यकता है। अपसंस्कारित अथवा संस्कारविहीन शब्द अपवित्र नरक-गामी होते हैं।

टिप्पणी—यहाँ पर अपसंस्कृत शब्द संस्कारविहीन का उपलक्षण है ।।६७।।

अनादि निधनम् ब्रह्म शब्दतत्वम् यदक्षरम्।
विवर्ततेऽर्थभावेन प्रक्रिया जगतो यतः।।७१।।

अन्वय—अनादि निधनम् ब्रह्म शब्दतत्वम् यत् अक्षरम् अर्थभावेन विवर्तते यतः जगतः प्रक्रिया।

अर्थ—आदि एवम् अन्त से हीन शब्द तत्व स्वरूप जो अक्षर है वह अर्थ के लिये अपना रूप विवर्तित करता है क्योंकि संसार की प्रक्रिया उसी पर आधारित है।

टिप्पणी—(विकार) सतत्वथोऽन्यथा प्रथा विकार इत्युदाहृतः अर्थात् तत्व के विद्यमान रहते हुये जो दूसरे रूप में परिणित होती है उसे विकार कहते हैं। जैसे दही इसमें दूध का ही रूप बदलकर दही का रूप धारण करता है।--विवर्त--अतत्वथोन्यथा प्रथा विवर्त इत्युदाहृतः--कोई पदार्थ अपने रूप को नहीं बदलता किन्तु उसमें दूसरे पदार्थ की भ्रान्ति होती है। जैसे रस्सी में सर्प की भ्रान्ति। रस्सी सर्प का रूप धारण नहीं करती किन्तु उसमें केवल सर्प की भ्रान्ति हो जाती है इसी को विवर्त कहते हैं।

इत्थम् वाक्यपदीयेऽपि हरिणा सम्यक् समर्थितम्।
व्यादायाननम् स्वीयम् स्वीकृतम् शब्दशासनम्।।७२।।

अन्वय—वाक्यपदीयेऽपि हरिणा इत्थम् आननम् व्यादाय स्वीयम् शब्दशासनम् सम्यक् समर्थितम् स्वीकृतञ्च।

अर्थ—वाक्यपदीय में भी भर्तृहरि ने इस प्रकार मुख खोलकर शब्दानुशासन को अच्छी प्रकार समर्थन देते हुये स्वीकार्य किया।

नियमः शब्दशास्त्रेण यतो धर्ममवाप्नुयात्।
संस्कारपरिहीने हि शब्दैर्धर्मस्य नाशनम्।।७३।।

अन्वय—शब्दशास्त्रेण नियमः यतः धर्मम् अवाप्नुयात्। संस्कारपरिहीने हि शब्दैः धर्मस्य नाशनम्।

अर्थ—शब्दशास्त्र के द्वारा नियम का निर्माण हुआ जिससे साधु शब्दों का ज्ञान होता है जिससे धर्म अर्थात् सत् की प्राप्ति होती है। जो शब्द संस्कार रहित हैं यदि उनका प्रयोग किया जायगा तो उससे धर्म की हानि होगी।

वेदानामुपकारार्थम् साधुशब्दम् समुच्चरेत्।
प्रयोगे चापशब्दानाम् संसृतिर्तस्य निश्चिता।।७४।।

अन्वय—वेदानामुपकारार्थम् साधुशब्दम् समुच्चरेत्। अपशब्दानाम् प्रयोगे तस्य संसृतिः निश्चिता।

अर्थ—वेदों का उपकार करने के लिये साधु शब्दों का प्रयोग करना चाहिये। अपशब्दों का प्रयोग करने से संसार में उसका आवागमन निश्चित है।

असौ पद्धतिः कालकुक्षौ प्रविष्टा।
पुनः कालयोगेन योगेन प्राप्ता।।
कृपायोगिनो व्यद्युतत् हृद्वियति।
येन योगेन नीतम् स्वकम् जीवनम्।।७५।।

अन्वय—असौ पद्धतिः काल-कुक्षौ प्रविष्टा। कालयोगेन योगेन पुनः प्राप्ता। कृपायोगिनः हृद् वियति व्यद्युतत्। येन योगेन स्वकम् जीवनम् नीतम्।

अर्थ—यह अचार्चिक पद्धति काल की कुक्षि में प्रविष्ट होगयी थी। अर्थात् धीरे-धीरे इसका ह्रास होगया। पुनः समय का योग होजाने के कारण कृपानन्द योगीने आत्मयोगानुशासन द्वारा इसे प्राप्त किया।. उनके हृदय में सर्वप्रर्थम इसका प्रकाश आया जिसको इन्होंने ग्रन्थ रूपमें अवतरित किया। इन्होंने अपने संगीतमय जीवनमें केवल स्वर ज्ञान से संबंधित अद्वय ज्ञान अथवा आत्मैक्य बोध के लिये ही सारा समय व्यतीत किया। मंचस्थ होने की इनकी कोई अभिलाषा नहीं देखी गयी।

भावस्रोतस्विनी चाम्बुधौ संपतेत्।
एदर्थम् ह्यचः साधनं निर्म्ममे।।
ग्रन्थरूपेऽङ्क्ता प्रोच्छलल्लोलिता।
बुद्धिकुल्याम्बुभिः तापसेचम् भवेत्।।७६।।

अन्वय—अम्बुधौ स्रोतस्विनी संपतेत् एतदर्थम् हि अचः साधनम् निर्ममे। ग्रन्थरूपे अङ्किता, लोलिता प्रोच्छलद् बुद्धिकुल्याम्बुभिः तापसेचम् भवेत्।

अर्थ—भाव-सरिता शब्द सागर में ही गिरे अतः (त्रिपाठि कुलशेखर) इन्होंने अच् साधन का निर्माण किया। वह उछलती हुयी चञ्चल भाव सरिता ग्रन्थ में परिणित होगयी जिससे निकलता हुआ जल बुद्धि रूपी नहर से ताप को अभिषिक्त करे अतः ग्रन्थ का निर्माण हो।

ग्रन्थमेतम्विनिर्माय निमज्जन्सुखवारिधौं।
प्रीत्यै भूयात् भगवतोः भवानी विश्वनाथयोः।।७७।।

अन्वय—एतम् ग्रन्थम् विनिर्माय सुखवारिधौ निमज्जन भगवतोः भवानी विश्वनाथयोः प्रीत्यै भूयात्।

अर्थ—यह ग्रन्थ की रचना जो है वह सुख के सागर में गोता लगाने के समान है और यह रचना ऐश्वर्यशाली भवानी एवम् विश्वनाथ की प्रसन्नता के लिये हो क्यों कि यह रचना उनकी ही एक प्रेरणा है।

ॐ

द्वितीय प्रकरण

स्वरसृष्टि

सकारः सूर्यबीजः स्यात्तस्मात्षड्जः प्रकीर्तितः।
षडात्मकाविशञ्चक्रे रेचकत्वाद्धि नादकृत्।।१।।

अन्वय—सूर्यबीजः सकारः स्यात् तस्मात् (सःसकारः) षड्जः प्रकीर्तितः। षडांत्मका विशञ्चक रेचकत्वात् हि नादकृत्।

अर्थ—सूर्यका बीज सकार है। अतः उस सकार को संगीत शास्त्र में षड्ज कहा गया है। वह सकार रूप षड्ज छवों चक्रों का भेदन करता हुआ रेचक क्रिया द्वारा सस्वर नाद को उत्पन्न करता है।

तस्मात्साङ्गीतके योगे साकारस्य प्रधानता।
अभ्यसन् तत्पदं योगी परम श्रेयोऽधिगच्छति।।२।।

अन्वय—तस्मात् साङ्गीतके योगे साकारस्य प्रधानता (अस्ति) योगी तत्पदम् अभ्यसन् परम श्रेयोऽधिगच्छति।

अर्थ—अतः संगीत के योग में "सा" इस वर्ण की ही प्रधानता होती है। योगी-साधक संगीत शास्त्र प्रेमी अर्थात् स्वर सृष्टि में अभिरूचि रखने वाला षड्ज की गहराई में प्रवेश करता हुआ परम कल्याण को प्राप्त होता है। परम कल्याण का तात्पर्य यह कि संगीत में स्वरों के महत्व को जानता हुआ अभेद ज्ञान को प्राप्त होता है।

न च काश्चित्भवेज्ज्ञानम् यो हि शब्दानुगमादृते।
अनुविद्धाखिलं ज्ञानम् सर्वम् शब्देन भासते।।३।।

अन्वय—काश्चित् ज्ञानम् शब्दानुगमात् ऋते न भवेत्। अनुविद्धम् अखिलम् ज्ञानम् सर्वम् शब्देन भासते।

अर्थ—कोई भी ज्ञान शब्द के अतिरिक्त सम्भव नहीं होसकता जैसे घट। घड़ा के आकार प्रकार एवम् गुण का ज्ञान शब्द अर्थात् घट इस रूप से ही जाना जासकता है। इसप्रकार सम्पूर्ण अर्थोंका ज्ञान शब्द से ही भासित होता है।

रेफः कार्शानवः बीजः प्राप्य वायुम् विशीर्यते।
तेनैकारविशिष्टस्य रेफस्याभ्यसनम् स्वरे।।४।।

अन्वय—रेफः कार्शानवः बीजः वायुम् प्राप्य विशीर्यते। तेन एकार विशिष्टस्य रेफस्य स्वरे अभ्यसनम्।

अर्थ—रकार अग्नि का बीज है जो वायु को प्राप्त कर बिखर जाता है इसीलिये एकार से युक्त रकार का स्वर में अभ्यास किया जाता है।

वैकारिको भवेद्रेफोऽवैकृतस्त्वादिमे स्वरे।
तीव्रकोमलयोर्भेदे जाते भवति रे द्विधा।।५।।

अन्वय—रेफः वैकारिको भवेत्। आदिमें स्वरे तु अवैकृतः। तीव्रकोमलयोः भेदे जाते रे द्विधा।

अर्थ—रेफ अर्थात् र विकारी होता है किन्तु आदिम स्वर अर्थात् 'सा' अविकारी होता है। "रे" तीव्र और कोमल के भेद से दो प्रकार का होता है।

चन्द्रार्कयोर्यदा वह्निः वायुना सह तिष्ठति।
व्यज्यते च तदानादः तद्वपुः शाब्दिकम् भवेत्।।६।।

अन्वय—यदा चन्द्रार्कयोः वह्निः वायुना सह तिष्ठति तदानादः व्यज्यते तद्वपुः शाब्दिकम् भवेत।

अर्थ—जब चन्द्रमा और सूर्य के वीच में वायु के साथ अग्नि स्थित होता है तब नाद की अभिव्यक्ति होती है और उसका रूप अथवा यों कहें कि उसका शरीर जो अदृश्य रूप है सस्वर-शाब्दिक हो जाता है।

मकारः शशिनोवीजः रकारश्च तन्मध्यगः।
सामयोरन्तर्भावित्वाद्रेफो ब्रह्ममत्वमाप्नुते।।७।।

अन्वय—शशिनः वीजः मकारः रकारः च तन्मध्यगः। समयोः अन्तर्भावित्वात् रेफ ब्रह्मत्वम् (शब्द्रूप ब्रह्मत्वम्) आप्नुते।

अर्थ—मकार चन्द्रमा का वीज है 'र' उसीके वीच में अर्थात् 'सा' और म के मध्यमें स्थित है। अतः सा और म के अन्तर्गत होने के कारण रेफ यानी रे (नाद रूप में अभिव्यक्त होने के कारण) शब्द रूप ब्रह्म की अभिव्यक्ति करता है।

अत एव ब्रह्मरूपत्वम् गकारेण समाप्नुते।
गच्छंति योगिनो यस्मिन् गकारश्च समाधिना।।८।।

अन्वय—अत एव गकारेण ब्रह्मरूपत्वम् समाप्नुते। यस्मिन् योगिनः समाधिना गच्छन्ति स गकारः।

अर्थ—अग्निरूप रे' के सा और म' के मध्य में पड़ने के कारण शब्द रूप ब्रह्म की अभिव्यक्ति होजाती है तो वह गकार के रूप में परिणत होजाता है। ग का अर्थ ही है कि योगी लोग समाधि के द्वारा जिसमें प्रवेश करते हैं उसे ग कहते हैं अर्थात् समाधान होने का वह गन्तव्य देश जिसमें प्रवेश करने के बाद किंचित् मात्र संशय शेष न रहे। उसी को समाधि कहते हैं।

ढक्कानादाभिव्यक्तेषु संगीत उपयोगिषु।
अइउणादि रूपेषु त्रयाणाञ्च प्रधानता ।।९।।

अन्वय—संगीते उपयोगिषु, ढक्कानादाभिव्यक्तेषु अइउण् आदि रूपेषु त्रयाणाञ्च प्रधानता (अस्ति)

अर्थ—संगीत शास्त्र में उपयोगी डमरू से अभिव्यक्त अइउण् इस सूत्र में तीन की प्रधानता होती है। अर्थात् संगीतशास्त्र का जो सा रे ग है वही माहेश्वर सूत्र का अइउण् है। अइउ इन तीन वर्णों को प्रधान मानकर ही यह सूत्र अभिव्यक्त किया गया है वही बात संगीत के सा रे ग में दिखाई गई है। अतः माहेश्वरसूत्र और संगीत शास्त्र के स्वर के मूल शिव जी ही सिद्ध होते हैं।

पूर्वाङ्गे यादृशम् रूपम् सारिगाणामवाप्यते।
दृश्यते उत्तराङ्गे तत् पधनीति स्वरान्विता।।१०।।

अन्वय—सारिगणाम् पूर्वाङ्गे यादृशम् रूपम् अवाप्यते तत् उत्तराङ्गे स्वरान्विता पधनीति दृश्यते।

अर्थ—सप्तक के दो भाग किये गये हैं (१) पूर्वाङ्ग (२) उत्तराङ्ग पूर्वाङ्ग में सा रे ग म का जो रूप है उत्तराङ्ग में वही प ध नी सां का रूप रहता है। अन्तर केवल कण्ठ देश के भार में होता है पर दूरी समान ही होती है।

सकारह्लादिनीकुक्षावकारश्चोत्पलायते।
निर्गुणो ब्रह्मरूपम् सत्व्याप्तः सर्वचराचरम्।।११।।

अन्वय—सकार ह्लादिनी कुक्षौ आकारः च उत्पलायते निगुर्णो ब्रह्म्रूपम् सत् सर्वचराचरम् व्याप्तः।

अर्थ—जिसप्रकार सृष्टि की आदि में जल से कमल का विकास हुआ और उससे निर्गुण ब्रह्म रूप धारण करता हुआ जड़और चेतन सभी में व्याप्त होजाता है उसी प्रकार से 'स' रूप सरिता के मध्य में आकार रूप कमल की उत्पत्ति होती है उसी के आधार पर रे 'ग' म आदि संगीत जगतमें सगुण निर्गुण ब्रह्म के रूप में वही अद्वित्तीय सत्ता व्याप्त है चाहे वह शब्द हो अथवा स्वर हो अथवा सृष्टि के अन्य तत्व।

विश्वेषाम् विश्वभावानामतो वर्णाः ररम्भि रे।
प्रधानोऽयम् यथा वर्णे तथा षड्जः प्रकीर्तितिः।।१२।।

अन्वय—विश्वेषाम् विश्वभावानाम् अतः वर्णाः ररम्भिरे यथा अयम् वर्णे प्रधानः तथा षड्जः (प्रधानः) प्रकीर्तितः।

अर्थ—सम्पूर्ण विश्व की भावनाओं को प्रकट करने के लिये अकार से ही सभी वर्ण प्रारम्भ किये गये हैं। उदाहरणार्थ माहेश्वर सूत्र अइउण् अ से ही प्रारम्भ किया गया है। अंग्रेजी म (A) भी अकर से ही वर्णो का क्रम चलता है। उर्दू यानी अरबी भाषा र्म अल्लिफ वे, पे, टे, इत्यादि वर्णो को अकार से ही प्रारम्भ किया गया है। इस प्रकार वर्ण में अकार जैसे प्रधान माना गया है उसी प्रकार संगीत में षड्ज (सा) की प्रधानता है।

चिच्छक्तिश्चेदिकारोक्ता झंकृतासर्वतन्तुषु।
तच्छून्यत्वाच्छिवः शून्यः शवेति व्यपदिश्यते।।१३।।

अन्वय—चित् शक्तिश्च इकारोक्ता सर्वतन्तुषु झंकृता तत् शून्यत्वात् शिवः शून्यो (भवति) शव इति व्यपदिश्यते।

अर्थ—चित् शक्ति अर्थात् ब्रह्मशक्ति को इकार कहा गया है जिसकी झंकृति सम्पूर्ण शरीर के अवयवात्मक तन्तुओं में होती है। अर्थात् चित् शक्ति से रहित होजाने पर चैतन्य शक्ति प्रतीत नहीं होती। जैसे शिव शब्द से इकार के हटा देने पर 'शव' शब्द बनता है जिसका अर्थ मुर्दा है।

तस्याः संयोगमात्रेण कार्यकारी शिवो भवेत्।
ऋषभः वाहनम् तस्य सूचकः बलवीर्ययोः।।१४।।

अन्वय—तस्याः संयोगमात्रेण शिव कार्यकारी भवेत्। तस्य (शिवस्य) वाहनम् ऋषभः (यः) बलवीर्ययोः सूचकः (अस्ति)

अर्थ—उस चित् शक्ति के संयोग मात्र से शिव कर्त्ता बन जाते हैं अर्थात् शक्ति की सहायता से ही वे सृष्टि का सृजन करते हैं। क्रिया दशा में वे अपने वाहन ऋषभ (वृषभ यानी बैल ऋषभ और वृषभ पर्यायवाची हैं ऋषभ स्वर रे के रूप में लिया गया है) पर सवारी करते हैं वृषभ पर जो ऋषभ स्वर

का सूचक है अर्थात् रे की सहायता से 'ग' का नाद सहज होजाता है। उसकी सहजता बल वीर्य का सूचक है जो वाद में ज्ञान विषयक ओज को प्रकट करता है। ओज के प्राकट्य से परमानन्द की प्राप्ति होती है गान्धार स्वर का सहज लगाव ही कंठ जगत् व चित्त शुद्धि का सूचक है। गान्धार के कंठमें सहज अवतरण का यही फल है।

ओजस्विता भवेत्तेन ताम्विना नहि सम्भवेत्।
शक्तिं समर्जयेद्धीमान्तद्धीनः संसृतिम् व्रजेत्।।१५।।

अन्वय—तेन ओजस्विता भवेत्, ताम्, (शक्तिम् अर्थात् ऋषभम्) विना नहिं सम्भवेत् । धीमान् शक्तिम् समर्जयेत्। तद्धीनः संसृतिम् व्रजेत्।

अर्थ—उस ऋषभ से ओजस्विता की प्राप्ति होती है। विना शक्ति रूप ऋषभ की अर्चना दर्शन किये सम्यक् ज्ञान स्वरूप ओजस्विता की प्राप्ति सम्भव नहीं। अतः बुद्धिमान व्यक्ति को चाहिये कि शक्ति अवश्य ही अर्जित करें। उसशक्ति से हीन भेद युक्त व्यक्ति संसार के आवागमन में पड़ा रहता है। ऋषभ स्वर ज्ञान के माध्यम से ही कोई व्यक्ति अग्रसर होसकता है क्योंकि आरोहावरोह में ऋषभ स्थल ही मूल अवरोधक है । विना बल वीर्य की सुरक्षा का ज्ञान प्राप्त किये कोई भी ओजस्विता नहीं प्राप्त कर सकता। इसलिये ऋषभस्वर दर्शन एवम् उसका साक्षात्कार संगीत साधकों एवं अन्य चिन्तन-मननशीलों स्वाध्यायियों के लिये आवश्यक है।

अकारो ज्ञप्तिमात्रः स्यादिकारस्तत्प्रकाशकः।
एतयोस्तु विवक्षायामुकारः सहजो भवेत्।।१६।।

अन्वय—अकारः ज्ञाप्तिमात्रः स्यात् इकारः तत्प्रकाशकः। एतयोर्विवक्षायाम् उकारः सहजः भवेत्।

अर्थ—अकार केवल ज्ञाप्ति मात्र है और इकार उसका प्रकाशक है। इस प्रकार अकार व इकार की विवक्षा में उकार सहज होजाता है। भाव यह

है कि पूर्व से स्थित पदार्थ को प्रकाशित किया जाय तो उसे ज्ञप्ति कहते हैं। जैसे अन्धकार में रखे हुये घड़े को दीपक से प्रकाशित किया जाय तो वहाँ घड़े की उत्पत्ति नहीं होती क्यों कि घड़े कि सत्ता पूर्व से ही विद्यमान है। उत्पत्ति में पदार्थ की सत्त्ता पहले से ही विद्यमान नहीं रहती।ज्ञप्ति में पूर्व से ही सत्ता विद्यमान रहती है। अतः दीपक के द्वारा घट की ज्ञप्ति ही कही जायगी उसी प्रकार वासुदेव के स्वरूपभूत अकार की सत्ता विद्यमान रहती है उसको प्रकाशित करने वाली माया स्वरूप इकार रूप चित् शक्ति है अतः इकार से अकार को प्रकाशित माना गया है। इस प्रकार अकार और इकार के उच्चारण से उकार का उच्चारण सहज हो जाता है। इसका दृष्टान्त यह है कि अकार रूपमें षड्ज की स्थिति है तथा इकार के रूप मे ऋषभ की स्थिति है इन दोनों की विवक्षा में गान्धार का नाद सहज होजाता है जो उकार का स्थानापन्न है।१६।।

उकारे विष्णुरूपत्वम् सैव प्रोक्तो महेश्वरः।
सैव संगीतके शास्त्रे गान्धारो विचिकीर्षितः।।१७।।

अन्वय—उकारे विष्णुरूपत्वम् स एव महेश्वरः प्रोक्तः। स एव संगीतके शास्त्रे गान्धारः विचिकीर्षितः।

अर्थ—उकार को विष्णु रूप कहा गया है वही महान् ईश्वर है उसकी महत्ता व्यापकता मे है। विष्णोति व्याप्नोति जगदिति विष्णुः अर्थात् जो संसार के कण-कण में व्याप्त हो उसे ही विष्णु कहते हैं अतः वही महान् ईश्वर हुआ। वही व्यापकता उकार अर्थात् गान्धार में है इसका स्वरूप व्यापक माना गया है वही उकार जो माहेश्वर सूत्र का तृतीय वर्ण है स्वर समूह में वही तृत्तीय स्वर 'ग' अर्थात् गान्धार के रूप में है।

'ग' का तात्पर्य यह है कि योगिनः समाधिना गच्छन्ति अस्मिन्निति गः अर्थात् योगी लोग जिसमें समाधि के द्वारा प्रवेश करते हैं। इस प्रकार गकार

विष्णु रूप में ही सिद्ध होता है जिसका प्रति रूपक गान्धार है। संगीतशास्त्रियों ने विशेष रूपमें ही गान्धार की अर्चना की है जिसकी वैय्याकरणों ने उकार के रूप में अर्चना की है इस प्रकार दोनों का सामञ्जस्य हो जाता है और यही शब्द व स्वर ज्ञान का वास्तविक रूप है।

वाग्वाहोऽस्ति हि गान्धारः गन्धोढत्वाच्च नासिका-।
माहत्योच्चार्यमाणत्वादसौ गन्धवहः स्मृतः।।१८।।

अन्वय—गान्धारः वाग्वाहः अस्ति। गन्धोढत्वात् च नासिकाम् अभि हत्य उच्चार्यमाणत्वात् असौ गन्धवहः स्मृतः।

अर्थ—गाम् वाणीम धारयतीति गान्धारः अर्थात् वाणीको धारण करने वाले को गान्धार कहते हैं जो ब्रह्म स्वरूप है क्यों कि वाणी उसी के अधीन रहती है। इसके अनुसार वैयाकरणों का स्फोट सिद्धान्तसिद्ध होता है एवम् संगीत शास्त्रियों का नाद विन्दु सिद्ध होता है। 'मुखादग्निरजायत' के अनुसार अग्नि मुख देशीय है अग्नि के माध्यम से ही शब्द की उत्पत्ति होती है।

'मनः कायाग्निमाहन्ति' ऐसा पूर्व मनीषियों ने शब्दाभिव्यक्ति में काया की अग्नि अर्थात् पित्त को शब्द की उत्पत्ति में कारण माना है। यह बात श्रीमद्भागवत में भगवान् कृष्ण के अग्नि पीने की कथा से स्पष्ट होती है। भाव यह है कि मुख देश से अग्नि की उत्पत्ति हुयी तो ब्रह्मावतार कृष्ण ने फिर अपने मुख में उसको स्थापित किया। अतः वाणी को प्रेरित करने वाले ब्रह्मस्वरूप को ही गान्धार कहते हैं। कुछ लोगों का मत है कि वह वायु का रूप है क्योंकि गन्ध को ढोने वाली वायु है वह जब नासिका का अभिहनन करके शब्दों को प्रकशित करती है तो उसे गन्धवह कहते हैं। इसप्रकार इस सिद्धान्त से भी वह ब्रह्म स्वरूप ही सिद्ध होता है वायु उसका उपलक्षण है।

गान्धारेणैव वक्तव्यम् विष्णोश्च कमनीयता।
करूणायाः प्ररोहस्य पल्लवः पल्लवायते।।१९।।

अन्वय—विष्णोः च कमनीयता ग़ान्धारेण एव वक्तव्यम्। करूणायाः प्ररोहस्य पल्लवः पल्लवायते।

अर्थ-

प्रतीयमानम् पुनरन्यदेव।
वस्तुस्तु वाणीषु महाकवीनाम्।।
यत् यत् प्रसिद्धावयवातिरिक्तम्।
विभाति लावण्यामिवाङ्गनास्तु।।

भाव यह है कि शरीर की कान्ति उनके अवयवों एवम् शारीरिक बन्धन स्थलों से ऊपर है अर्थात् इसमें कान्ति का आभास मात्र होता है जो तेज की एक झलक है अतः भगवान विष्णु के तेज की झलक गान्धार में ही मिलती है अतः उसी के माध्यम से उस तेज को व्यक्त करना चाहिये अन्यथा उससे विष्णु का अन्वय व्यतिरेक सम्बन्ध नहीं बन पायेगा। जिस प्रकार विष्णु के दर्शन से शरीर धारण करने की सार्थकता सिद्ध हो जाती है उसी प्रकार गान्धार से भी एक विशेष प्रकार के आनन्द की अनुभूति हो जाती है। उनके चरणो में दया का अङ्कुर होना स्वाभाविक है इसीलिये उनके पद का लव अर्थात् अंशमात्र पल्लव की तरह सुशोभित होता है। यहाँ पर पल्लव की दो व्युत्पत्ति है एक तो रूढ़ शब्द है दूसरा पद लव यौगिक है इससे पल्लव एवम् पद का लव मात्र दोनों अर्थ अभिव्यक्त होते हैं।१९।।

समधिगम्य ऋकारलृकारयोः।
परमनादयुताम् प्रकृतिम् पराम्।।
परमपूरूषरूपमिदम् ऋतम्।
मदनवीजसुलासितलृत्यकः।।२०।।

अन्वय—ऋकार लृकारयोः परमनादयुताम् पराम् प्रकृतिम् समधिगम्य (इदम् सिध्यति) इदम् ऋतम् परमपुरूषरूपम् मदनवीज सुलासित लृत्यकः।

अर्थ—ऋकार एवम् लृकार की परमनाद से युक्त परा प्रकृति को समझा गया ऋकार उस परम पुरुष रूप चैतन्य का स्वरूप है तथा लृकार उसकी दिव्य माया से प्रकटित काम देव का वीज अर्थात कृष्ण रूप है। जिसका स्पष्टीकरण गीता में किया गया है। भगवान कृष्णने स्वम् मुक्त कंठ से उद्घोष किया है कामदेव का रूप भी हमारा ही रूप है। अतः जब वे वंशी बजाने मे तत्पर हो जाते थे तो उनका एक पैर उठ जाता था जिससे उनका रूप लृ ऐसा बन जाता था उनकी कमनीयता भी विचित्र हो जाती थी अतः उन्हीं को काम का भी बीज माना गया है। जिस प्रकार चैतन्य से भिन्न प्रभु का विराट रूप नहीं है उसी प्रकार ऋकार से लृकार भी भिन्न नहीं है। बल्कि दोनों एक दूसरे से अभिन्न हैं इसलिये वार्तिककार वररूचि ने भी अपने वार्तिक में दोनों की एकता सिद्ध की है वह इस प्रकार है (ऋ लृवर्णयोर्मिथः सावर्ण्यम्वाच्यम्) अर्थात् ऋकार लृकार की आपस में सवर्ण संज्ञा होती है। वह उसी प्रकार है जैसे चैतन्य से उसका विराट रूप भिन्न नहीं है लृकार को काम रूप होने के कारण ही ऋकार रूपी ब्रह्म में सम्मिलित कर दिया जाता है अतः ब्रह्म एवम् काम एक रूप हो जाते हैं इसी कारण से कृष्ण ने अपने को काम रूप बताया है और यही ऋ और लृ संगीत क्षेत्र में सस्वर उच्चारण ही कंठ को आपातों से मुक्त करने वाला सर्वोपरि ज्ञान विषयक मंत्र है।

ऋकारो मूर्धानमभिहनचलत्प्रातप्य नभसः।
मुखेस्थानं स्पश्यं स्फुटति परमानन्द वपुषा।।
लृकारस्तद्वृत्तीरदलिटपरब्रह्ममहिषी।
यतो वै दन्तेषु सकलविदुषाप्राप्तविरतिः।।२१।।

अन्वय- ऋकारः मूर्धानम् प्राप्य (तम्) अभिहन नभसः अचलत् । मुखे स्थानम् स्पृश्यन् परमानन्द वपुषा स्फुटति। लृकारः तद्वृत्तिः रदलिट् परब्रह्म महिषी। यतो वै सकल विदुषा दन्तेषु प्राप्त विरतिः।

अर्थ—ऋकार अभिव्यक्त दशा में मूर्धाको प्राप्त होकर और उसका अभिहन करता हुआ आकाश देश से ऊपर उठा। मुखदेशीय स्थानका स्पर्श करता हुआ परमानन्द के शरीर से स्फुट हुआ। लृकार उसकी वृत्ति है जो दन्त स्थान का स्पर्श करती है यही परब्रह्म परमात्मा की पटरानी है क्यों कि वृत्ति वृत्तिमान् से भिन्न नहीं होती अतः ऋकार से लृकार भिन्न नहीं। सभी विद्वानों ने वृत्ति के द्वारा ही वृत्तिमान को प्राप्त किया है अतः दन्त स्थान स्थित लृकार के द्वारा ही ऋकार वृत्तिमान का ज्ञान सम्भव है बुद्धिमान साधक लृकार साधन के द्वारा ऋकार का भी सस्वर पाठ आर्चिक पद्धति से करते आये हैं बीच में यह रहस्यमय साधन विस्मृत सा होगया अतः इस महामन्त्र की साधना वैयाकरण संगीतकार दोनों के लिये परमावश्यक है ।

न वृत्तिभेदो हि कदापि दृश्यते।
निरन्तरम् वृत्तिमतावसेविता।।
खेऽवस्थिता भासित एव चन्द्रतः।
न चन्द्रिका काञ्चिदुपैति भिन्नताम्।।२२।।

अन्वय—कदापि वृत्तिभेदो न दृश्यते। निरन्तरम् वृत्तिमता अवसेविता। खे अवस्थित आभासितः एव चन्द्रतः चन्द्रिका काञ्चित् भिन्नताम् न उपैति।

अर्थ — वैयाकरणों का सिद्धान्त है वृत्तिमत्वम् अर्थवत्वम्-अर्थात् वृत्तिमान ही अर्थवान् होता है दोनो में वृत्ति कारण है। यदि वृत्तिमत्ता नहीं रहेगी तो अर्थवत्ता भी नहीं होगी। अतः वृत्ति और वृत्तिमान में अभेद सम्बन्ध है वृत्ति की सत्ता कभी पृथक् सम्भव नहीं। यहाँ पर उदाहरण देते हैं--

आकाश स्थित चमकते हुये चन्द्रमा से उसकी चाँदनी भिन्न नहीं है। यहाँ पर चन्द्रमा वृत्तिमान है तद् वृत्ति चन्द्रिका में है अतः उस चन्द्रमा से उसकी चाँदनी भिन्न सत्ता रूपमें स्थित नहीं हो सकती।

ऋकारस्यान्तर्गान्धारे पाठमाहुर्मनीषिणः।
किन्त्वध्यारोपितेनैव नैव सिद्धिर्भविष्यति।।२३।।

अन्वय—मनीषिणः ऋकारस्य अन्तर्गान्धारे पाठमाहुः। किन्तु अध्यारोपितेन एव सिद्धः नैव भविष्यति।

अर्थ— मनीषियों ने ऋकार का अन्तर्गान्धार में पाठ माना है अर्थात् अन्तर्गान्धार को अनुमानित रूपसे बीच में उसकी स्थित मान लिये हैं किन्तु अध्यारोपित होने मात्र से सिद्धि की प्राप्ति नहीं होसकती। क्योंकि केवल मानसिक रूपसे अध्यारोपित पदार्थ में कोई कार्य सम्भव नहीं इसके अतिरिक्त जो पक्ष क्रियात्मकता से जुड़ा हो और क्रिया प्रधान भी हो उसका अध्यारोप हो ही नहीं सकता। जैसे मृग मरीचिका को यदि जल मान लिया जाय तो उसमें स्नान करना या गोता लगाना सम्भव नहीं उसी प्रकार अन्तर्गान्धार में मात्र केवल मान लेने से न तो उसमें कोई कार्य सम्भव है न हीं उसका कोई फल ही बन सकता है। अतः संगीत जगत में सस्वर वाचन का ही महत्व है। यदि यह कहा जाय कि अन्तर्गान्धार वही है जो तम्बूरे पर कान को सुनाई पड़ता है तो उसका पाठअथवा अभ्यास कैसे सम्भव है इसके उत्तरमें केवल इतना ही कहना श्रेयस्कर है कि गान्धार के साथ ऋषभ षड्ज पंचम धैवत मध्यम एवं निषाद सभी स्वर तम्बूरे पर साधन करते सुनाई पड़ते हैं तो फिर साधन की क्या आवश्यकता। अतः प्राचीनों का यह सिद्धान्त ठीक नहीं है। इस सन्दर्भ में ऋकार ही अन्तर्गान्धार है और उसका सस्वर वाचन करने का नियम स्वर साधन के समय शुद्ध स्वर साधन के साथ आर्चिक पद्धति से किया जासकता है इसलिये नवाचोच्चारण सहित स्वर साधन ही वास्तविक साधन है। अचार्चिक साधन पद्धति का चार्ट इस पुस्तक में दिया गया है जो मन्त्राभिषिक्त है।

गकारेण न चर्कारः सम्भविष्यति मूर्धजः।
अध्यारोपितद्वाक्यमपवादाद्धृणीयते।।२४।।

अन्वय—मूर्धजः ऋकारः गकारेण सम्भविष्यति। अध्यारोवितत‌द्वक्यम् अध्यारोपात् ह्वणीयते।

अर्थ—उस प्रकार केवल आरोपित करदेने पर ही मूर्धास्थानीय ऋकार का बोध गकार से सम्भव नहीं हो सकेगा। क्योंकि अध्यारोपका अपवाद के द्वारा बाध हो जाता है जिससे अध्यारोपित की कोई सत्ता नहीं रह जाती। इस प्रकार प्राचीनों ने ऋकार की सत्ता को ही समाप्त कर दिया है जब कि ब्रह्मरूप से विश्व में व्याप्त है उसका दर्शन व उपयोग दोनों ही सम्भव है अर्थात् अच् कभी न तो अनुमानित होसकता है न अध्यारोपित।

इत्थञ्चेति लृकारान्तम् नैषादम्प्रोचतुः स्वरे।
अध्यारोपापवादाभ्यामृतन्नैव वियुज्यते।।२५।।

अन्वय—इत्थञ्च स्वरे लृकारान्तम् नैषादम् (प्राचीनः आधुनिकश्च) प्रोचतुः अध्यारोपापवादाभ्यां एतत् न वियुज्यते।

अर्थ—इस प्रकार अर्थात जैसे ऋकार को गान्धार में प्राचीन मान लेते हैं उसी प्रकार प्राचीन व आधुनिक भी लृकार को निषाद में मानकर काकली निषाद की कल्पना कर लिये हैं। किन्तु यह सिद्धान्त भी अध्यारोप एवम् अपवाद के दोष से रहित नहीं है अध्यारोपित पदार्थ की सत्ता नहीं रह पाती यह पूर्व प्रकरण में बताया जा चुका है। जैसे मृग मरीचिका में स्नान व गोता लगाना सम्भव नहीं उसी प्रकार केवल अध्यारोपित करने मात्र से कण्ठ जगत की शुद्धि व उसक विकास नहीं हो सकता। इस प्रकार कण्ठ काकली संज्ञा भी व्यर्थ हो जाती है जब कि इसको प्रायोगिक मानना चाहिये। लृकार एवम् पूर्वकथित ऋकार का आर्चिक पद्धति से सर्व वर्णोच्चारण के साथ प्रत्येक स्वरों पर अभ्यास करना चाहिये जो ही संगीत जगत की पूर्णता सिद्ध करने में सक्षम है। यही सर्वाङ्ग साधन है।

तस्मादृकारकाभ्यासमभ्यसेत्स्वरसप्तके।
एकतोऽभ्यसनात्तस्य भवेदेकाङ्गता पुनः।।२६।।

अन्वय—तस्मात् स्वर सप्तके ऋकारकाभ्यासम् अभ्यसेत्। तस्य एकतः अभ्यसनात् तस्य एकङ्गता भवेत्।

अर्थ— इसलिये सातों स्वरों पर ऋकार एवम् लृकार का अभ्यास क्रमशः पूर्वाङ्ग तक प्रातः ग्रन्थ के निर्देशानुसार छः मास तक करने के पश्चात् उत्तराङ्ग में प्रवेश करना चाहिये। यदि एक स्वर अर्थात् षड्ज पर अधिक ठहराव पद्धति अनुसार साधन एकाङ्गता सूचक है जब कि संगीत साधन कंठ विकास के लिये सर्वाङ्ग जुड़ा हुआ है। अतः प्रचलित साधन पद्धति अव्याप्ति दोष से युक्त है। कहने का तात्पर्य यह कि ऋकार का सस्वर पाठ आर्चिक पद्धति से आवश्यक है यही शुद्ध अन्तर्गान्धार सूचक है जो कानको तम्बूरे पर 'गरेसा' गरेसा ध्वनि के साथ साधक को सुनाई पड़ता है।२६।

पुष्ट्यर्थम् सर्वतोऽङ्गस्य साधयेत्स्वरसप्तके।
झंकृतिः सर्वतन्तूनाम् मुखदेशो भवेदिह।।२७।।

अन्वय—अङ्गस्य सर्वतः पुष्ट्यर्थम् स्वरसप्तके साधयेत्। इह मुख देशे सर्वतन्तूनाम् झङ्कृतिः भवेत्।पुष्टट्य

अर्थ—मुख से लेकर नाभि पर्यन्त तक सभी अङ्गों की परिपुष्टि के लिये सातों स्वरों पर ऋकार और लृकार का सस्वर अभ्यास करना चाहिये। इस मुख देश में अचों से जुड़े हुये जो तन्तु हैं उक्त निर्देशानुसार अभ्यास द्वारा ही वे तन्तुयें झंकृत हो सकती हैं।

आनाभेः मूर्धपर्यन्तमेकाकारो तदा भवेत्।
संसृतिर्निर्विमुक्तत्वात्ब्रह्माकारः विजायते।२८।।

अन्वय—आनाभेः मूर्धपर्यन्तम् तदा एकाकारो भवेत्। संसृतेः निर्विमुक्तत्वात् व्रह्माकारः विजायते।

अर्थ—नाभि से लेकर मूर्धा पर्यन्त वायु के माध्यम से एकाकार होजाता है अर्थात् अक्षर की अभिव्यक्ति में नाभि से उठी हुयी वायु ही मुखदेशीय तन्तुओंको झंकृत करती हुयी वैखरी का रूप धारण करती है जो ब्रह्म स्वरूप है उस समय साधक सृष्टि में ईश्वरमय हो जात है। ईश्वर व सृष्टि की एकता अर्थात् एकाकारता ही ब्रह्मस्वरूपता है।

ओकारः पञ्चमः प्रोक्तः एषश्चाकाशद्योतकः।
तस्य भूर्तिधरः सूर्यः जागर्ता सर्वजीविनाम्।।२९।।

अन्वय— ओकार पञ्चमः प्रोक्तः च एषः आकाशद्योतकः। तस्य मूर्तिधरः सूर्यः (सः) सर्वजीविनाम् जागर्ता।

अर्थ— ओकार को पञ्चम स्वर कहा गया है अर्थात् पञ्चम स्वर 'प' ओकार का रूप है जो माहेश्वर सूत्र के स्वर में पठित सातवें स्थान को पूरा करता है। यह आकाश का द्योतक है उसके मूर्तिमान स्वरूप भगवान सूर्य हैं जो सभी प्राणियों को जगाने वाले हैं। संगीत शास्त्र में अभ्यास के समय षड्ज पञ्चम मेल करते हैं उन दोनो के अधिष्ठाता भी सूर्य ही है अतः इस सम्वाद व सृष्टि से दोनों अभिन्न सिद्ध होते हैं।

यथा सूर्योदये जाते जगत्युद्बुध्यते जनैः।
श्रौते पञ्चमस्वरे तद्वद्धृष्यन्ति सुहृज्जनाः।।३०।।

अन्वय—यथा सूर्योदये जाते (सति) जगति जनैः उद्बुध्यते तद्वत् पञ्चम स्वरे श्रौते (सति) सुहृज्जनाः हृष्यन्ति।

अर्थ—जिस प्रकार सूर्य के उदित होने पर लोग जागृत होते हैं उसी प्रकार तानपूरे पर साधन के साथ पञ्चम स्वर साक्षात्कार में सुहृज्जन प्रसन्न हो जाते हैं। यहाँ पर सुहृद् को ही प्रसन्नता का आधार बताया गया है क्योंकि जबतक हृदय शुद्ध नहीं होता तबतक किसी भी व्यक्ति को प्रसन्नता का अनुभव

नहीं हो सकता। प्रसंन्नता तों गुण के विकास पर ही होती है। इससे यह सिद्ध होता है कि साधक के अतिरिक्त श्रोता को भी सतोगुण प्रधान होना चाहिये। तमोगुण प्रधान में हृदय कलुषित होजाने पर प्रसन्नता सम्भव नहीं क्यों कि तम और प्रसन्नता का आपस में कोई ताल मेल नहीं है। इसी लिये तमो गुण से भरी योनि में जन्म लेने वाले पशु-पक्षी हँस नहीं पाते। अतः पञ्चम स्वर नाद जो सूर्य की मूर्ति है वह सतोगुण से जुड़ा हुआ है अर्थात् पञ्चम स्वर नाद के साक्षात्कार से अन्तः- करण का कलुष ढह जाता है जो चिर प्रसन्नता का द्योतक है।

नवार्चिकक्रमाभ्यासे पूर्वमोकारदेशितः।
अतश्च पाणिनेः सूत्रात् पृथग् निर्देशमादृतम्।।३१।।

अन्वय— नवार्चिकक्रमाभ्यासे पूर्वम् ओकारदेशितः। च अतः पाणिनेः सूत्रात् पृथग्निर्देशम् आहतम्।

अर्थ— नवार्चिक साधान के माध्यम से ही एकार से पहले ओकार दिखलाया गया है। इसीलिये पाणिनि जी के प्राप्त चौदह सूत्रों के क्रमों में विपर्यय हो गया।

एकारः मध्यमः प्रोक्तः संगीतकविलक्षणैः।
अपानाकर्षणेशक्तः गम्भीरः शान्ति द्योतकः।।३२।।

अन्वय— संगीतक विलक्षणैः एकारः मध्यमः प्रोक्तः। अपना कर्षणे सक्तः गम्भीरः शान्तिद्योतकः।

अर्थ— संगीत शास्त्र के पारंगत लोगों ने एकार को मध्यम स्वर कहा है जो 'म' स्वर का द्योतक है। जिस के अधिष्ठाता देवता चन्द्रमा हैं (इसी लिये वह पञ्चम स्वर से नीचे है) जो अपान वायु को अपने उदर में खींच कर उसे शुद्ध करते रहते हैं। शुद्ध स्वर साधन प्रक्रिया में मध्यम स्वर प्रभाव से.

गम्भीरता आती है और शान्ति की प्राप्ति होती है क्योंकि 'म' स्वयम् ही गम्भीर स्वर है वही साधन काल में अर्थात रेचक द्वारा निकली अशुद्ध वायु को शुद्ध करता है। इस प्रकार चन्द्रभाव से ध्यानस्थ होकर स्वर साधन करना चाहिये।

षड्जमध्यमयोगेन माधुर्यमनुभूयते।
सूर्यस्थानाद्गलद्वायुश्चन्द्रैकारे विशुध्यति।।३ ३।।

अन्वय—षड्जमध्यम योगेन माधुर्यम् अनुभूयते। सूर्यस्थानादग्लवायुः चन्द्रैकारे विशुध्यति।

अर्थ—षड्ज और मध्यम के योग से मधुरता का अनुभव होता है क्यों कि यह सम्वाद वास्तव में मधुर है ही। इस प्रकार षड्ज व मध्यम सम्वाद से एक विलक्षण और सुमधुर नाद उत्पन्न होता है जो संगीत की आध्यात्मिकता की तरफ चलने के लिये प्रेरित करता है। इसके अतिरिक्त सूर्य के स्थान से चली हुयी वायु चन्द्रमा रूपी एकर से जो 'म' का रूप माना जाता है वास्तव में यह सम्वाद सूर्य व चन्द्रमा का सम्वाद है। जिससे वायु का निकलना रूकना व शुद्ध होना एक साथ होता है। संगीत स्वर साधन में कुम्भकव रेचक साथ साथ होता है।

यथा नभसि संस्थित एव चन्द्रतः।
विकासयति कैरव चक्रवालम्।।
तथैव हृदाकाशविचर्यमाणः।
एकारचन्द्रोल्फुलस्वरकदम्बम्।।३ ४।।

अन्वय—यथा नर्भास एव संस्थितः चन्द्र कैरव चक्रवालम् विकासयति तथा एव हृदाकाश विचर्यमाणः एकार चन्द्रोल्फुल स्वर कदम्वम्।

अर्थ—जिस प्रकार आकाश में स्थित होकर चन्द्रमा कुमुदिनी की कलियों को विकसित कर देता है उसी प्रकार हृदय रूपी आकाश में विचरण

करता हुआ एकार स्वर समूह को विकसित करदेता है अर्थात् मध्यम स्वर के विकास होने पर ही पञ्चम स्वर की व्यापकता का भी आभास श्नैः श्नैः होने लगता है। जो अपने आकाश मण्डल की व्यापकता को उजागर करने लगता है।

अकारस्यैकारयोगेनैकारो जायते पुनः।
व्रह्मज्ञानसमावेशो धैवतः सम्प्रकाशते।।३५।।

अन्वय— अकारस्य एकारयोगेन पुनः ऐकारो जायते। व्रह्म ज्ञान समावेशे धैवतः सम्प्रकाशते।

अर्थ—अकार का एकार के साथ सम्वन्ध होने पर ऐकार की निष्पत्ति होती है। इसलिये पाणिनि व्याकरण में वृद्धिरादैच् सूत्र है। इससे ऐकार और औकार वृद्धि संज्ञक हो जाते हैं। वृद्धि का विधान करने के लिये वृद्धिरेचि सूत्र है इन दोनो की सहायता से अकार एवम् एकार के स्थान में ऐकार हो जाता है। अकर वासुदेव वाचक है यह पहले वताया जा चुका है एकार ज्ञान का रूप है इन दोनो के सहकार से ऐकार यानी धैवत स्वर की, अभिव्यक्ति हो जाती है। इस स्वर में ज्ञान और व्रह्म की एकता सिद्ध की गई है। जो नैयायिकों को भी मान्य है वे भी 'ज्ञानाधिकरमात्मा' ज्ञान के आधार को ही आत्मा मानते हैं और उस आत्मा के दो भेद समझने व समझाने के लिये मान लिया गया है जिसे परमात्मा व जीवात्मा उपाधि से जाना जाता है जिसेही संगीत शास्त्र में नाद विन्दु के नाम से जाना जाता है।

मतम् सिद्धम् हि कोषानाम् धैवतो धनवाचकः।
मृदुशान्तम् भयन्तस्मिन्नुग्रतास्याज्जुगुप्सितम्।।३६।।

अन्वय— धैवतो धनवाचकः हि कोषा नाम् मतम् सिद्धम्। तस्मिनन्नुउग्रता ज्जुगुप्सितम् भयम् मृदुशान्तम् च स्यात्।

अर्थ—धैवत शब्द धिवु धातु से 'क्त' प्रत्यय करके निपातनात् वृद्धि होकर धैवत शब्द वनता है जो धन अर्थ में रूढ़ है जो कोशो से सिद्ध है। इसका स्वभाव मृदु एवम् शान्त है किन्तु इस स्वर से भय उग्रता एवम् जुगुप्सा की अभिव्यक्ति की जाती है। उपरोक्त भावों की सृष्टि रागों के प्रस्तुती करण से होता है। इतना ही नहीं स्मशानी भयानकता रूदन चीत्कार शोर लड़ाई झगड़े जैसे नादों का प्राकट्य स्वाभाविक है।

औकारो ब्रह्मतत्वस्य व्यापकत्वस्य सूचकः।
निषादेतत्प्रवेशेन ज्ञायते स्वरकोमलः।।३७।।

अर्थ —औकार व्रह्मतत्व के विराट् स्वरूप व्यापकता सघनता का सूचक है उसका संकेतक निषाद है अतः निषाद में प्रवेश होजाने के कारण कोमल स्वर का ज्ञान होता है। इसी आधार पर ही उसकी निषाद कोमल की संज्ञा की गई है। एकार व औकार का षड्ज मध्यम् भाव से सम्वाद भी होता है यद्यपि एकार का कण्ठ तालु स्थान है तथा औकार का कण्ठौष्ठ स्थान है इसप्रकार व्याकरण शैली के आधार पर स्थान भिन्न होने पर भी संगीत शास्त्र में दोनों को एकाकार माना गया है। इसका कारण यह है कि एकार का स्वामी चन्द्रमा है तथा धैवत का स्वामी कुवेर हैं। धन के अधिष्ठाता देवता चन्द्रमा माने गये हैं अतः धन से उनका सम्बन्ध अन्वय व्यतिरेकी सिद्ध होता है इसलिये कार्य कारणमें अभिन्नता मानते हुये दोनो को एकाकार माना गया है अतः ऋ लृ की तरह इनका भी सम्वाद होता है।

नि पूर्वस्य सद्धातोर्गतिरर्थो हि प्रकीर्तितः।
गतेर्ज्ञानाववोधेन ज्ञानाश्रय उदाहृतः।।३८।।

अन्वर्य— नि पूर्वस्य सद् धातोः हि गतिः अर्थः प्रकीर्तितः। गतेः ज्ञानाववोधेन ज्ञानाश्रय उदाहृतः।

अर्थ—निपूर्वक सद्धातु का गति अर्थ है। गति का ज्ञान भी अर्थ है अतः ज्ञान के आश्रय को निषाद कहते हैं यह भी अर्थ सिद्ध होता है।

सादेश्च प्रापणार्थत्वात्तद्धातौ स्यात्विचित्रता।
सादयति निश्चितार्थेऽसौ निषादोपवर्णितः।।३९।।

अन्वर्य—सादेः प्रापणार्थत्वात् तद्धातौ विचित्रता-स्यात्। यः निश्चितार्थे सादयति असौ निषादोपवर्णितः।

अर्थ—सद् धातु का पहुँचना अर्थ है इसलिये इसमें और विचित्रता आगयी अर्थात् जो निश्चित लक्ष तक पहुँचावे उसे निषाद कहते हैं इसी को शुद्ध निषाद भी कहते हैं।

धातोः विसीरणार्थत्वात्विशीर्यन्ते यतो त्वपाः।
निषादः कथ्यते सोऽयन्निषीदन्ति स्वराः यतः।।४०।।

अन्वर्य— धातोः विशीरणार्थत्वात् यतः अपाः विशीर्यन्ते सः निषादः कथ्यते अथवा यतः स्वराः निषीदन्ति (सः निषादः)

अर्थ— सद् धातु का बिखरना अर्थ है जिससे अप विखर जाते हैं उसे निषाद कहते हैं अथवा जिसमें स्वर वैठ जाते या समा जाते हैं उसे निषाद कहते हैं।

आपातानाञ्च हन्तायः स्वराणाञ्चरमस्तुयः।
प्रलीयन्ते स्वराः यस्मिन् सभवेच्च निषादभाक्।।४१।।

अन्वर्य—यः आपातानाम् हन्ता स्वराणाम् च यः चरमः। यस्मिन् स्वराः प्रलीयन्ते सः निषादभाक् भवेत।

अर्थ—जो आपातो का नाशक एवम् जो आपातो के नाश को प्रमाणित करता है और जो स्वरों का समापक है। जिसमें स्वर लीन हो जाते है। वह

निषाद कहा जाता है। अतः स्वर साधन में मार्गावरोध के मूल कारण को समझने के लिये तथा उसे विधि विधान सहित साधन द्वारा समझना चाहिये। इस सन्दर्भ में निम्न श्लोकों को ध्यान पूर्वक साधन करने से समाधान सम्भावित है।

वासुदेवपराविद्या वासुदेवपरःस्वरः।
वासुदेवपरं ज्ञानम्वासुदेवपरं जगत्।।४२।।

अन्वय—विद्या वासुदेव परा। स्वरः वासुदेव परः। ज्ञानम् वासुदेव परम्। जगत् वासुदेव परम्।

अर्थ—विद्या वासुदव परक है। स्वर वासुदेव परक है ज्ञान वासुदेव परक है जगत भी वासुदेव परक है। इससे सिद्ध होता है कि कोई पदार्थ वासुदेव से भिन्न नहीं है। अतः षड्ज जो वासुदेव परक है उसका समापन भी वासुदेव परक निषाद पर है। अतः इस स्वर से सिद्ध होता है कि सर्वम् व्रह्ममयम् जगत्।

निषादस्यार्चनङ्कुर्वन् वासुदेवपरो भवेत्।
अतो हि जीवनिर्मुक्तिः तस्मादैकान्तिकम्भजेत्।।४३।।

अन्वय—निषादस्य अर्चनम् कुर्वन् वासुदेव परो भवेत। अतो ही जीवनिर्मुक्तिः तस्मादैकान्तिकम् भजेत।

अर्थ—निषाद की अर्चना करता हुआ साधक भी वासुदेव परक हो जाता है इससे ही जीव मुक्ति दसा को प्राप्त हो जाता है अतः आत्यन्तिक दुःख की निवृत्ति के लिये स्वर साधन करना चाहिये। स्वर साधन दशा में ही साधक एकाकार हो विदेह हो जाता है अर्थात् अभेद हो जाता है उसकी सारी वृत्तियां निषाद की तरह उसी में लीन हो जाती हैं अतः स्वसम्वेद्य सुख की अनुभूति होने लगती है।

सर्वथानेष्वलाभ्यासः कारयेत् सर्वतो वुधैः।
विशन्तस्ते परमानन्दे प्राप्नुयुः परमांगतिम्।।४४।।

अन्वय—बुधैः सर्वथानेषु सर्वतः अलाभ्यासः कारयेत्। ते परमानन्दे विशन्तः परमाम् गतिम् प्राप्नुयुः।

अर्थ— बुध अर्थात् वुद्धिमान व्यक्ति को चाहिये कि सभी स्वर स्थलों पर वर्णोच्चारण के साथ अभ्यास करें। इस प्रकार वे परमानन्द में प्रवेश कर परम गति को प्राप्त कर सकेंगे।

साधनपद्धतिश्चैषा चकमेऽधः सुपंक्तिषु।
अर्चयेदवधानेन यस्मान्नस्खलम् भवेत्।।४५।।

अन्वय— एषा साधन पद्धतिः अधः सुपंक्तिषु चकमे। अवधानेन अर्चयेत्। यस्मात् स्खलम् न भवेत्।

अर्थ— यह साधन पद्धति नीचेकी पंक्तियों में सुशोभित है। इस लिये ध्यान पूर्वक इसकी अर्चना करनी चाहिये जिससे स्वर मार्ग से कभी पतन न हो।

दृश्यम्-दृश्यम् स्वर सर्वम् श्रावम् श्रावञ्चतध्वनिम्।
प्लावम्प्लावम् रसे तस्य सन्तरेद्ध्वनिसागरम्।।४६।।

अन्वय— सर्वम् दृश्यम दृश्यम् तत् ध्वनिम् च श्रावम् श्रावम् तस्य रसे प्लावम् प्लावम् ध्वनि सागरम् सन्तरेद्।

अर्थ—सभी स्वरों को देख-देख कर उस ध्वनि को सुन-सुन कर उसके रस में डूब-डूब कर ध्वनि सागर को पार करना चाहिये।

शिवस्वरूप दर्शन			
अनाश्रिताच्युतानाहत विभुन देशीय परमाकाश अस्पर्श [illegible] स्वयं प्रकाश	'अ' परमाकाश से अवतरित प्रथम 'अच' नावाचिकांचमक्षराणामकारः।	आहत नाद प्राकृत षड्ज	स्वरान्तर का प्रायोगिक 'सा'
चेतन तत्व अनादि ब्रह्म रूप ईकार रहित	आदि सृष्टि	नाभि हृदि मुखदेशीय एकाकार जो प्राकृत है। पृथ्वी जल अग्निवायु सूर्य चन्द्रादि से सहजता पूर्वक स्फुरित होने वाला, नवाचों का संयमित संतुलन। अग्निवायु प्रधान सूर्य चन्द्रका संतुलित रेचक कुंभक। मूर्धा तालु कंठ दंत ओष्ठादि में नवाचों का सहज स्फुरण, स्वभावयुक्ता ८५ प्रतिशत पृथ्वी जलापात जो आवश्यक है। पर व्याकरण व साधन शैली दूसरों को न दे पाने की अज्ञानता शोध का अभाव।	पृथ्वी जलापात से व्यथित। स्वर वर्ण व्यञ्जनाभिव्यक्तिका कंठापात। ८५ प्रतिशत पृथ्वी जलापात का कंठ जगत में दबाव एवं षडतन्तुओं की निष्क्रयता पृथ्वीजलापात के निरोध में प्रचलित स्वरान्तर अलंकारों की अक्षमता योग एवं जिज्ञासा शोध एवं खोज करने का क्षेत्र। अचार्चिक साधन से प्राकृत षड्जाकार का ज्ञान एवं नवाचों की विशेषता व नवाचों के उद्भव का ज्ञान व अच्युत अनाहत अमृत पद की प्राप्ति की साधन भूमि।
ब्रह्मतत्व अनादि नाद ब्रह्म	ईकार युक्त आकाशरूप नाभिप्रदेशीय शिवनाद बिन्दु-गुण रूप।		

मध्य षड्ज स्वर पर अचार्चिक साधन विधि 'सा'	सप्त शुद्ध स्वरों की संशुद्धि हेतु अचार्चिक स्वर साधन पद्धति ऋ ओम् ऐं ह्रीं क्लीं ए ओङ् ऐ औच्। लृ ओम् ऐं ह्रीं क्लीं ए ओङ् ऐ औच्॥														
	ऋ	ओ	रा	रा	री	री	रु	रु	रे	रै	रो	रौ	रं	रः	पृथ्वी जलापात का निरोधार्चन एवं नवीनतम शल्य साधन शैली
	ऋ	ओ	ला	ला	ली	ली	लू	लू	ले	लै	लो	लौ	लं	लः	
	लृ	ओ	ला	ला	ली	ली	लू	लू	ले	लै	लो	लौ	लं	लः	
	ऋ	ओ	वा	वा	वी	वी	वू	वू	वे	वै	वो	वौ	वं	वः	
	ऋ	ओ	शा	शा	शी	शी	शू	शू	शे	शै	शो	शौ	शं	शः	
	ऋ	ओ	षा	षा	षी	षी	षू	षू	षे	षै	षो	षौ	षं	षः	
	लृ	ओ	सा	सा	सी	सी	सू	सू	से	सै	सो	सौ	सं	सः	
	लृ	ओ	हा	हा	ही	ही	हू	हू	हे	है	हो	हौ	हं	हः	
	ऋ	ओ	क्षा	क्षा	क्षी	क्षी	क्षू	क्षू	क्षे	क्षै	क्षो	क्षौ	क्षं	क्षः	
	ऋ	ओ	त्रा	त्रा	त्री	त्री	त्रू	त्रू	त्रे	त्रै	त्रो	त्रौ	त्रं	त्रः	
	ऋ	ओ	ज्ञा	ज्ञा	ज्ञी	ज्ञी	ज्ञू	ज्ञू	ज्ञे	ज्ञै	ज्ञो	ज्ञौ	ज्ञं	ज्ञः	
	ऋ	ओ	या	या	यी	यी	यू	यू	ये	यै	यो	यौ	यं	यः	
	ऋ	ओ	का	का	की	की	कू	कू	के	कै	को	कौ	कं	कः	
	ऋ	ओ	खा	खा	खी	खी	खू	खू	खे	खै	खो	खौ	खं	खः	
	ऋ	ओ	गा	गा	गी	गी	गू	गू	गे	गै	गो	गौ	गं	गः	
	ऋ	ओ	घा	घा	घी	घी	घू	घू	घे	घै	घो	घौ	घं	घः	
	ऋ	ओ	ङा	ङा	ङी	ङी	ङू	ङू	ङे	ङै	ङो	ङौ	ङं	ङः	
	ऋ	ओ	चा	चा	ची	ची	चू	चू	चे	चै	चो	चौ	चं	चः	
	ऋ	ओ	छा	छा	छी	छी	छू	छू	छे	छै	छो	छौ	छं	छः	
	ऋ	ओ	जा	जा	जी	जी	जू	जू	जे	जै	जो	जौ	जं	जः	
	ऋ	ओ	झा	झा	झी	झी	झू	झू	झे	झै	झो	झौ	झं	झः	
	ऋ	ओ	ञा	ञा	ञी	ञी	ञू	ञू	ञे	ञै	ञो	ञौ	ञं	ञः	
	ऋ	ओ	टा	टा	टी	टी	टू	टू	टे	टै	टो	टौ	टं	टः	
	लृ	ओ	ठा	ठा	ठी	ठी	ठू	ठू	ठे	ठै	ठो	ठौ	ठं	ठः	
	लृ	ओ	डा	डा	डी	डी	डू	डू	डे	डै	डो	डौ	डं	डः	
	लृ	ओ	ढा	ढा	ढी	ढी	ढू	ढू	ढे	ढै	ढो	ढौ	ढं	ढः	
	लृ	ओ	णा	णा	णी	णी	णू	णू	णे	णै	णो	णौ	णं	णः	
	लृ	ओ	ता	ता	ती	ती	तू	तू	ते	तै	तो	तौ	तं	तः	
	लृ	ओ	था	था	थी	थी	थू	थू	थे	थै	थो	थौ	थं	थः	
	ऋ	ओ	दा	दा	दी	दी	दू	दू	दे	दै	दो	दौ	दं	दः	
	लृ	ओ	धा	धा	धी	धी	धू	धू	धे	धै	धो	धौ	धं	धः	
	लृ	ओ	ना	ना	नी	नी	नू	नू	ने	नै	नो	नौ	नं	नः	
	ऋ	ओ	पा	पा	पी	पी	पू	पू	पे	पै	पो	पौ	पं	पः	
	कृ	ओ	फा	फा	फी	फी	फू	फू	फे	फै	फो	फौ	फं	फः	
	ऋ	ओ	बा	बा	बी	बी	बू	बू	बे	बै	बो	बौ	बं	बः	
	लृ	ओ	भा	भा	भी	भी	भू	भू	भे	भै	भो	भौ	भं	भः	
	ऋ	ओ	मा	मा	मी	मी	मू	मू	मे	मै	मो	मौ	मं	मः	
	ऋ	ओ	ज्ञ		ञ	म	ङ	ण	न	म्		५बार			
	ऋ	ओ	आ	आ	ई	ई	ऊ	ऊ	ए	ऐ	ओ	औ	अं	अः	
	लृ	ओ	आ	आ	ई	ई	ऊ	ऊ	ए	ऐ	ओ	औ	अं	अः	
			इसी प्रकार प्रत्येक स्वरों पर साधना करनी चाहिये												

तृतीय प्रकरण
स्वरापात निवारण स्तोत्रम्

ऋकारो मूर्धानमभिहनचलत्प्राप्यनभसः।
मुखे स्थानं स्पृश्यं स्फुटति परमानन्दवपुषा।।
लृकारस्तद्वृत्ती रदलिट् परब्रह्म महिषी।
यतो वै दन्तेषु सकलविदुषप्राप्तविरतिः।।१।।

अन्वय—ऋकारः मूर्धानम् प्राप्य (तम्) अभिहन नभसः अचलत्। मुखेस्थानम् स्पृस्यन् परमानन्द वपुषा स्फुटति। लृकारः तद्वृत्तिः रदलिट् परब्रह्म महिषी। यतो वै सकल विदुषा दन्तेषु प्राप्त-विरतिः।

अर्थ—ऋकार अभिव्यक्ति दशा में मूर्धा को प्राप्त होकर और उसका अभिहन् करता हुआ आकाश देश से ऊपर उठा। मुख देशीय स्थानों का स्पर्श करता हुआ परमानन्द के शरीर से स्फुट हुआ। लृकार-ऋकार की वृत्ति है जो दन्त स्थान का स्पर्श करती है यही परब्रह्म परमात्मा की पटरानी है क्योंकि वृत्ति वृत्तिमान से भिन्न नहीं होती अतः ऋकार से लृकार भिन्न नहीं है सभी विद्वानों ने वृत्ति के द्वारा ही वृत्तिमान को प्राप्त किया है अतः दन्त स्थान स्थित लृकार के द्वारा ही वृत्तिमान ऋकार का ज्ञान सम्भव है बुद्धिमान लोग ऋकार लृकार का सस्वर पाठ कर के नादविन्दु के दर्शन में सफल हुये क्यों कि ये दोनों वर्ण मुक्ति ज्ञान के साधन के माध्यम हैं।

सकारः सृष्ट्यादौ समभवदनादेषु विहरन्।
मुखे वै बीजोभूत सततखशयादित्य द्युमणेः।।
अकाराभादिव्या लहरप्रसवा सेति स्वरिका।
अतो वै सर्वान्तान्नज्याणमुखाग्रान्मुखरयति।।२।।

अन्वयः—सृष्ट्यादौ आनादेषु विहरन् मुखे सततखशयादित्य द्युमणेः बीजोऽभूत आकाराभा दिव्या लहर प्रसवा सेति स्वरिका। अतः वै सर्वेषाम् अज्गणमुखाग्रे मुखरयति।

अर्थः—सृष्टि की आदि में या प्रारम्भ में अनादि ब्रह्म से सकार प्रादुर्भूत हुआ जो मुख देश से अभिव्यक्त होता हुआ निरन्तर आकाश स्थित सूर्य "जो दिन के मणि हैं" के बीज हुये। अकार की आभा दिव्य है वही स्वर तरंग को उत्पन्न करने वाली है यही अकार 'सा' स्वर से संबन्धित है अर्थात् अ और सा का अन्योन्याश्रय सम्बन्ध है अतः यह अकार अथवा सा सम्पूर्ण अच् समुदायों को मुखरित करता है।

सकारे षड्जत्वम् सकलस्वरमूलाधिकरणम्।
विकासे संजाते भुवनस्वरग्रामादिरचना।।
प्रवेशो रागादौ विविधिविधतानादिमुरकाः।
प्रकाश्यन्तेनादेऽच्युतपरमह्लादे विहरति।।३।।

अन्वयः—सकारे षड्जत्वम् सकल स्वर मूलाधिकरणम् (अस्त) (तस्मिन्) विकारे संजाते (सति) भुवन स्वर ग्रामादि रचना (भवति) रागादौ प्रवेशे विविधि विध तानादि मुरकाः नादे प्रकाश्यन्ते (साधकः) अच्युत परमह्लादे विहरति।

अर्थः—सकार ही षड्ज है वही संपूर्ण स्वरो का मूलाधार है। कण्ठ जगत् में परम्परागत विकास हो जाने पर अन्तःकरण प्रफुल्लित होता है इसी को विकसित रूपमें देखने समझने के लिये संसार में सभी स्वर एवम् ग्रामादि की रचना हुयी है। रागादि में प्रवेश होजाने पर विविध प्रकारके तान आलाप कण मुरक मीड़ गमक जैसी क्रियांग विधियाँ प्रकाशित होने लगती हैं। प्राकृत स्फुरण को ही लिपिबद्ध: करके सिखाने पढ़ाने का नियम

ही शास्त्रीय नियम है। इन्हीं सर्वाङ्ग नियमों की प्राप्ति के लिये चेष्टावान् साधक अच्युत रूप परमानन्द में विहार करने लगता है।

इकारश्चिच्छक्तिः ऋषभस्वररूपा शिखरणी।
विनाताम्रेरूपाम्शिवनिजस्वरूपाद् विगलति।।
असौ लक्ष्मी दुर्गा तरणितनुजा क्ष्मा त्रिपथगा।
अतो हे-हेरम्ब-जननि! जपनीयासि दिविजैः।।४।।

अन्वयः—इकारः चित्शक्तिः ऋषभस्वर रूपा शिखरणी (अस्ति) 'रे' रूपाम् ताम् विना शिव निज स्वरूपात् विगलति। असौ (शक्तिः) लक्ष्मी दुर्गा तरणि तनुजा क्ष्मा त्रिपथगा। अतः हे हेरम्बजननि दिविजैः जपनीया (अस्ति)।

अर्थ—इकार ही चित् शक्ति है ऋषभस्वर का स्वरूप शिखरस्थ अर्थात् सृष्टि में सर्वोपरि है। उस रे रूप चित् शक्ति के विना शिव (अ) अपने (सगुण) स्वरूप से ही च्युत हो जाते हैं। अर्थात् इकार की सत्ता रहने पर ही शिवत्व (षड्जत्व) सिद्ध है अथवा ईकार के हटजाने पर शिव 'शव' सिद्ध होता है। फिर शिव सत्ता का बोध सम्भव नहीं होपाता। वही शक्ति, लक्ष्मी, दुर्गा, सरस्वती, यमुना, पृथ्वी एवम् गंगा के रूपमें प्रभावित हो रही है। अतः हे! गणेश जननि देवताओं एवम् चतुर्दिक सर्व जीवों के द्वारा तुम सतत् पूज्यनीय हो क्यों कि तुम्ही ज्ञान, भक्ति एवम् संस्कृति को गौरवान्वित करने वाली हो।

अकारेकारेण प्रकृति सहयोगेन प्रभुणा।
सुसृष्टिम् निर्माय सकल भुवने व्याप्तिमगमत्।।
स्वयम् स्पर्शायोगः विषयफलभोगादि रहितः।
सबुद्मुवुद्धोनादे परमरसरूपो विजयते।।५।।

अन्वयः—अकारेकारेण प्रकृति सहयोगेन प्रभुणा सुसृष्टिम् निर्माय सकल भुवने व्याप्तिमगमत्। स्वयम् स्पर्शायोगः विषयफल भोगादि रहितः। नाद समुद्बुद्धः परम रस रूपः विजयते।

अर्थः—अकार इकार अर्थात् प्रकृति के साथ योग। उसी के द्वारा प्रभु ने सुन्दर सृष्टि की रचना करके उसी मे निर्लिप्त रूपसे व्याप्त हो गये। स्वयम् स्पर्श रहित विषयफल हेत्वादि के आवेश से परे साधन ज्ञान साक्षात्कार से (जानने योग्य) जानने योग सिद्ध हुये। भोगादि से रहित अनाश्रित अच्युत नाद में अंदृश्य स्वरूप अभिव्यक्त प्रभु विजय प्राप्त करें अर्थात् सर्वोत्कृष्ट हों। प्रभु की उत्कृष्टता का मुख्य दर्शनीय आधार इस सृष्टिमें षड्ज ऋषभ स्वर का योग है और षड्ज ऋषभ स्वर का यही सृष्टिमें आध्यात्मिक रूप भी है।।५।।

गकाराद्गान्धारो भुवनपतिकान्तिम् हि भजते।
अकाराद्रेफाद्वै गमनमधिगेशो च भवति।।
गवाम्धारे लोके सकलमुनि-मान्यैर्विकथितः।
स्वरेऽस्मि गान्धारः भवजलधि पोतेन गणितः।।६।।

अन्वयः—गकाराद् गान्धारः (भवति) (योहि) भुवनपतिकान्तिम् भजते। अकार वै रेफाद् अधिगेशे च भवति। सकल मुनि मान्यैः लोके गवाम्धारे (गान्धारः) विकथितः। अस्मिन् स्वरे गान्धारः भव जलधिपोतेन गणितः।

अर्थः—गकार से गान्धार स्वर लिया जाता है। जो संसार के स्वामी अर्थात् विष्णु की कान्ति को धारण करता है। अकार और रेफ यानी ऋषभ से गकार रूपी स्वामी अर्थात् विष्णु रूप उकार के प्रवेश में सहजता आजाती है। वाणी को धारण करने वाले को सभी मुनिमान्यों ने गान्धार कहा है। इस स्वर प्रकरण में गान्धार को संसार सागर से पार करने के लिये अविचलित जहाज (नौका) के रूप में (लिया गया) है।।६।।

स्वरादौ गान्धार अइउणित वेदोक्तसरिगाः।
कृतानान्दीशेन पवनवचनारम्भसमये।।
अकारेविष्णुत्वम् भुवनमखिलम् व्याप्य चवभौ।
अदोजन्मस्थानमखिलजगताम्स्तौमिपुरूषम्।।७।।

अन्वयः—स्वरादौ गान्धार अइउण इति वेदाक्त सरिगाः (सन्ति) इति पवनवचनारम्भ समये नान्दीशेन कृताः। अकारे विष्णुत्वम् अखिलभुवनम् व्याप्य च वभौ। अदः अखिल जगताम् जन्मस्थानम् (तं) पुरूषम् नौमि।

अर्थः—गान्धार स्वरादि के प्रसंग में नन्दिकेश्वर ने अपने पवित्र वचन रूपी वार्तिक के कथन में कहा है कि अइउण् ही सारेग है। अर्थात् 'सा' अकार है, रे इकार है तथा उकार ग है। इसे अकार में ही विष्णु हैं जो संसार को व्याप्त करके सुशोभित हैं। वहीं सम्पूर्ण जगत का जन्मस्थान है अतः उस अद्वितीय पुरूष को बार-बार नमस्कार करता हूँ।

मकारश्चन्द्रात्मा किरणनिकरैस्तृप्तवसुधा।
मसामध्यस्थातानलगतिप्रयोगात्प्रसरति।।
आपाँल्लासाभावे प्रकृतसुखस्रावे सुजनितो।
कृतेभोः सम्वादे प्रकटित सुनादे मदयति।।८।।

अन्वयः—मकारः चन्द्रात्मा किरण-निकरैः तृप्तवसुधा। म,सा मध्यस्थाता अनलगति प्रयोगात् प्रसरति। अपाम् लासाभावे, प्रकृत सुखस्रावे सुजनितः। भोः सम्वादे कृते प्रकटित-सुनादे मदयति।

अर्थः—मकार चन्द्रमा की आत्मा है उसके किरण समूह से वसुधा तृप्त होजाती है। 'सा और म' के मध्य में स्थित अग्निरूप रे की गति के प्रयोग से स्वर तरंग का प्रसार होता है और प्राकृत सुख अनुभव होता है स्वरों के सम्वाद से उत्पन्न नाद आश्चर्यवत् आनन्द प्रदान करने लगता है।

चिदात्मावृत्यैकात् घटपटपदार्थाः प्रकटिताः।
तयोर्भेदे जाते सततलयताम् याति वसुधा।।
स्वरूपे शीतत्वम् हिमकरवदाकाशप्रसरः।
विरेचात्सूर्यस्य सकलमपवायुम् शमयति।।९।।

अन्वयः—चिदात्मा-वृत्यैकात् घटपटपदार्थाः प्रकटिताः सन्ति। तयोः भेदे जाते वसुधा सततलयताम् याति। हिमकरवदाकाशप्रसरः स्वरूपे शीतत्वम् (अस्ति) सूर्यस्य विरेचात् सकलम् अपवायुम् शमयति।

अर्थ—चिदात्मा और वृत्ति की एकता होने पर घट पट पदार्थ प्रत्यक्ष होते हैं तथा वृत्ति भेद होजाने पर वसुधा आत्यन्तिक लय को प्राप्त होजाती है। मध्यम स्वर जो चिदात्मा और वृत्ति का समवाय है वह स्वभावतः शीतल प्रधान होता है जिस प्रकार चन्द्रमा का प्रसार आकाश देश में होता है उसी प्रकार मध्यम स्वर हृदयाकाश में फैलता है तथा सूर्य से विरेचन रूप क्रिया होने से अप वायु का शमन होता है।

चिदात्मावृत्यैकात् विहरति सदाकाशनिहितो।
प्रदीव्यन्मार्तण्डो व्यथितजनदुखान् शमयति।।
प्रकाश्यन् वै नादे प्रकटितसुह्लादे सुहृदयः।
क-माहेये भूत्वा परमपदयोगं स लभते।।१०।।

अन्वयः—चिदात्मावृत्यैकात् सदाकाशनिहितः प्रदीव्यन् मार्तण्डः विहरति (तथा च) व्याथितजनदुःखान् शमयति। वै नादे प्रकाश्यन् प्रकटित सुह्लादे सुहृदयः। स सुहृदयः क-माहेय भूत्वा परमपद योगम् लभते।

अर्थः—अकार रूप चिदात्मा तथा इकार रूप वृत्ति की एकता से सदा हृदय रूपी आकाश में प्रकाश को फैलाता हुआ ज्ञान रवि सांसारिक व्यथा से पीड़ित होने वाले लोगों (साधकों) को शान्ति प्रदान करता है। तथा

चिन्तनरत जिनके रागादि विकार दूर होगये हैं वे संगीत की उपयोगिता के साथ सृष्टि रहस्य को समझ कर शान्तिलाभ करते हैं।

अकाराड्डौ जाते उदितिवचनैः शास्त्रप्रक्रिया।
सर्वार्थोकारेण अदिति सहकारौत् प्रजनितो।।
अकारे विष्णुत्वम् कथितप्रथमैः श्लोकनिकरैः।
शिवाद् विष्णोर्भेदः कथमपिन पूर्वैर्विकथितम्।।११।।

अन्वयः—अकारात् डौ जाते (सति) उत् इति वचनैः शास्त्रप्रक्रिया (सिध्यति) सर्वार्थो कारेण अत् इति सहकारात् ओत् प्रजनितः। कथित-प्रथमैः श्लोकनिकरैः अकारे विष्णुत्वम् (सिद्धम्) कथमपि शिवाद् विष्णोः भेदः न इति पूर्वैः विकथितम्।

अर्थः—अकार से डु प्रत्यय करने पर ड की चुटू सूत्र से इत्संज्ञा हुयी और तस्य लोपः से उसका लोप हुआ अ + उ इस स्थिति में भ संज्ञा के अभाव में भी डित्व सामर्थ्यादभस्यापि टेर्लोपः इस वचन से म का लोप होगया केवल उकार वचा। जिसप्रकार इयान् में प्रत्यय मात्र का शेष रहता है उसी प्रकार यहाँ पर भी प्रत्यय मात्र केवल उकार का ही शेष रहा जिसका एकाक्षरी कोश के निर्देशानुसार शिव अर्थ होता है। अकार में विष्णु रूप है। ऐसा पहले के श्लोक समूहो में बताया जा चुका है। इस प्रकार विष्णु रूप अकार तथा शिवरूप उकार का संयोग होने से ओकार का रूप निष्पन्न होता है। इसकी एकरूपता से सिद्ध होता है कि शिव और विष्णु में कोई भी भेद कदापि सम्भव नहीं है ऐसा पूर्व मनीषियों ने मुक्त कण्ठ से कहा है।

शिवोकारौकारे मिलितहरिरूपोपलभते।
स्वरेषु पञ्चात्वे सकलस्वरमूर्ध्निविलसति।।
संयुक्तावोकारे गगनपदभासेऽवविहितो।
तदाधाराधेयो सकलजनसेव्यो हि तपनः।।१२।।

अन्वयः—शिव + अकारः + ओकारे मिलित हरि रूपः अपि लभते। स्वरेषु पञ्चात्वे स्कल स्वर मूर्ध्नि विलसति। संयुक्तौ + ओकारे गगनपद भासे अवविहितः तदाधार + आधेयः सकल जनसेव्यः तपनः अस्ति।

अर्थः—ओकार में शिव का रूप उकार एवम् हरि का मिलित रूप अकार प्राप्त होता है। यह स्वरों में पञ्चम स्वर है जो सभी स्वरों के शिखर पर सुशोभित है। अर्थात् अन्य स्वर की अपेक्षा इस स्वर का ध्वन्यालोक (आकाश) मंडल अधिक प्रभावशाली-व्यापक है। संयुक्त वर्ण ओकार से आकाश पद भी द्योतित् होता है। उसकी आधारता में रहने वाले तथा सर्व जन सेव्य भगवान भास्कर हैं। कहने का भाव यह है कि जिस प्रकार आकाश में सूर्य के उदित होजाने पर सभी लोग तम से जागृत होकर सूर्य दर्शन सेवन में आनन्दानुभूति करते हैं उसी प्रकार पञ्चम स्वर के साक्षात्कार में अपने सभी अनर्थों-आपातों से निवृत होकर आनन्द विभोर होजाते हैं यही शिव विष्णु की अद्वितत्तीयता का भेद रहित शिखर सम्वाद है।

गिराव्याख्याहीनो त्रिदशश्रुतिज्ञानद्वययुतो।
ऋते ज्ञानातस्य न सरतित्वधामोघनिवहः।।
विधेरज्ञानेन सगुणनिगुणादेश्च कलहः।
प्रशान्त्यै पञ्चस्य स्वरसदपकारे निवशति।।१३।।

अन्वयः—त्रिदशश्रुतिज्ञानाद्वययुतः गिराव्याख्याहीनः तस्य ज्ञानात् ऋते अघामोघ निवहः न सरति। विधेः अज्ञानेन सगुणनिगुणादेः च कलहः (भवति) पञ्चस्य प्रशान्त्यै (जनः) स्वर सद पकारे निविशते।

अर्थः—पञ्चमस्वर जो तेरहवीं श्रुति पर है ज्ञान स्वरूप अद्वय होता हुआं वाणी और व्याख्या से परे (अनुभवगम्य) है। बिना उसका (साक्षात्कार) ज्ञान हुये अघ का वह अमोघ समूह नष्ट नहीं होपाता। वास्तवमें सभी स्वर निर्विवाद हैं। समझ नासमझ के कारण विवाद भी होना स्वाभविक ही है।

इस लिये पञ्चमस्वर सम्वाद विधि जाने विना लोगों में विवाद का होना भी स्वाभाविक है। सगुण-निर्गुण तथा द्वैत-अद्वैत के विषय में विवाद करते रहते हैं। उसका मूल कारण है सम्वाद को न जान पाना। पञ्चात्मक प्रपञ्च की शान्ति के लिये स्वाध्यायरतचिन्तनशील साधक सभी स्वरों के निवास स्वरूप पकार अर्थात् पञ्चमस्वर श्रुति में प्रवेश कर अज्ञान तिमिर से दूर हो जाते हैं जो निरपेक्ष शान्ति की दृढ़निश्चय भूमि दर्शन का अच्युत उदाहरण है।

विवादः शास्त्रेषु निरूपधिकसोपाधिविषये।
श्रुतेः सम्वादेन सकलकलहाशान्तिशमनः।।
स्वरेषु प्राधान्यम् शिखरश्रुतिरूपैश्च रचना।
तथौकारेऽद्वैते शमितनियमोद्वन्द्वविरतिः।।१४।।

अन्वयः—निरूपधिक सोपाधि विषये शास्त्रेषु विवादः। श्रुतेः सम्वादेन सकल कलहा शान्ति शमनः। स्वरेषु ओकारे प्राधान्यम्। तथा शमित नियमो द्वन्द्वविरतिः।

अर्थः—सगुण एवम् निर्गुण ब्रह्म के विषय में शास्त्रों का विवाद बहुत दिनों से चला आरहा है किन्तु श्रुति सम्वाद अर्थात् पञ्चम श्रुति स्वर ज्ञान से सम्पूर्ण कलह एवम् अशान्ति समाप्त हो जाती है। स्वरों में ओकार की प्रधानता है क्यों कि अ + उ को मिलाकर ओ बनता है। अ वासुदेव परक है तथा उकार (उ) उसी का आदिकारण निराकार शिवरूप है। "शिवमद्वैतम् चतुर्थम् मन्यते" इस न्याय से शिव ही तुरीय पाद अद्वैत ब्रह्म है उसीका साकार रूप अकार है अतः उस अकार रूप सगुण और उकार रूप निर्गुण को मिलाने से 'ओ' बनता है। इस प्रकार जहाँ मेल है वहाँ विवाद है ही नहीं अर्थात् सगुण निर्गुण में कोई भेद नहीं है और न दो ही हैं। इस प्रकार दोनों की एकाकारता को सिद्ध करने के लिये शास्त्रकारोंने ओकार का उपदेश किया। इन्हीं कारणों से स्वरों में ओकार की प्रधानता है। जो भ्रम-भ्रान्ति निवारक है। इन्हीं कारणों से

संगीतशास्त्रवेत्ताओं ने शिखर श्रुति का सस्वर पाठ व उसका ध्यान किया जिसे निर्विवाद पाया और उस प्राप्ति से निरपेक्ष ज्ञानोदय का अद्वय प्रकाश अर्थात् "सर्वम्-ब्रह्मेति" की सिद्धि से सारे विवाद अन्तरहित होगये-होजाते हैं।

अद्वैत ज्ञान की सिद्धि होने पर संपूर्ण नियम साधन का भी समापन हो जाता है। क्योंकि साधनों की स्थिति ब्रह्मज्ञान प्राप्ति के पहले तक ही रहती है अन्तमें क्रियापक्ष स्वयमेव शान्त होजाते हैं। साधक की दृष्टि में सांसारिक द्वन्द्व भी समाप्त होजाता है। "ततः साधननिर्मुक्तः सिद्धो भवति योगिराट्" वेदान्त के इस श्लोक के अनुसार योग साधनों की क्षमता एवम् उसका गन्तव्य देश परा है। परा देश तक पहुँच ने में क्रियापक्ष की समाप्ति होजाती है। इसी को सीधा 'जप' कहा गया है। इसके बाद का मार्ग स्वर साधन रहित क्रियापक्षों के लिये अनजाना मार्ग हो जाता है। क्योंकि स्वर साधन ही 'अ' का जप है। उसी को अजपाजप कहा गया है। यह भक्ति परक है। दूसरे शब्दों में यही उल्टा जप भी है, यानी सीधा व उल्टा दोनों प्रकार के जपों से इसका सम्बन्ध है। जिस देश में शक्ति ही चले वही शक्ति है। शक्ति स्वयम् चलती है। वह चलाई नहीं जाती। अर्थात् शक्ति से लड़ाई लड़कर ज्ञान प्राप्त करना असम्भव है। बहुत से साधक शक्ति को जढ़ व ठगिन शब्द से सम्बोधित कर दिये हैं यह अल्पता के अतिरिक्त अन्य कुछ भी नहीं है। यह पुरुष वचन है। जो पूर्ण ज्ञान का सूचक नहीं है वहाँ पुरुष वचन होगा ही। कहने का भाव यह कि माया ही शक्ति है। शाक्ति ही दुर्गा है। शक्ति पार्वती हैं। पार्वती स्वरूप ज्ञान व विभूति दोनों को प्रदान करने में सक्षम और अभेद्य हैं पार्वती और शिव दोनों नाम अभिन्न हैं।

नवाचाचां ज्ञानात् कलिकलुषह्रासः प्रतिदिनम्।
ततो तेषाम्मध्ये कतिपयस्वराःप्राप्तप्रतिभाः।।
तदाभाभासेन अगमसमज्ञानेन पुरूषाः।
रतित्वादोंकारे सकलकलप्राप्ताः न चिखिदुः।।१५।।

अन्वयः—नवाचाचाम् ज्ञानात् अहरहः कलिकलुषह्रासः ततः तेषाम् मध्ये प्राप्त प्रतिभाः कतिपय स्वराः ततः + आभा + भासेन अगम- सम ज्ञानेन पुरूषाः ओंकारे रतित्वात् सकल कल प्राप्ताः न चिखिदुः।

अर्थः—नवोंअचों के सस्वर ज्ञान से दिन प्रतिदिन कलिकाल के पाप नष्ट होते रहते हैं। उसके बाद उन स्वरों के बीच प्राप्त प्रतिभावाले कतिपय स्वर हैं। उन स्वरों की शक्ति का आभास हो जाने पर तथा सगम अथवा साम जो लब्ध प्रतिभ हैं का ज्ञान हो जाने पर ओंकार में रति हो जाने पर सकल सुखों को प्राप्त करने वाले कभी दुःखी नहीं हुये।

रकारोऽग्नेर्वीजो तपनसहयोगम् हि कुरूते।
तदाकारोजाता र, निपतनयोगाद्धि सहजः।।
उभाभ्याम्भास्वद्भ्याम् परिलसितशब्दैक रचना।
सदौकारे मान्ते मुनिजन विहारो हि लभते।।१६।।

अन्वयः—अग्नेः बीजः रकारः तपनसहयोगम् लभते तदा अकारः र, निपतयोगात् सहजः भवति भास्वद्भ्यां उभाभ्यां परिलसिशब्दैक रचना। सदा मान्ते ओकारे मुनिजन विहारः लभते हि।

अर्थः— र अग्निका बीज है जब वह सूर्य से संयोग नादोच्चारण माध्यम से करता है और यह सूर्य में गुरूत्वाकर्षण के कारण होता है क्योंकि अग्नि का ऊर्ध्वगमन सूर्य के गुरूत्वाकर्षण के कारण ही होता है जिस अग्नि के साथ वायु भी उर्धव गमन की दिशा में नाद विन्दु के साथ सहभागी हो जाता है। कहने का भाव यह कि सूर्यका बीज 'आ' है इसप्रकार सूर्य और अग्नि के योग से 'आ' र बन जाता है तब निपातन सिद्ध 'र' के स्थान पर उ हो जाता है। इसके लिये "पृषोदरादीनि यथोपदिष्टम् सूत्र है उकार के स्थान के सहकार से अ ओ होजाता है अर्थात् आ + उ = ओ। इन दोनों के स्थान में एक विशेष शब्द की रचना हो जाती है सदा मान्त करने पर अर्थात् ओके

बाद म जोड़ने पर ओम् की निष्पत्ति होती है। जिसमें मुनि लोग विहार करते हैं। यही मुनियों की अमृतमय विहारस्थली है।

प्रभाते सञ्जाते रविकरप्रकाशाः घटपटाः।
तथा षड्जे नादे सकलस्वरवृन्दाः प्रकटिताः।।
रकारेतद्योगात् पवनगतिरेचो विसरति।
मकारे चन्द्रत्वम् सकलमपवायुम् शमयति।।१७।।

अन्वयः—प्रभाते सञ्जाते घटपटाः रविकरप्रकाशाः तथा षड्जे नादे सकलस्वर वृन्दाः प्रकटिताः। रकारे तद्योगात् पवनगतिरेचः विसरति मकारे चन्द्रत्वम् सकलम् अपवायुम् शमयति।

अर्थः—प्रातःकाल होजाने पर सभी घट पट पदार्थ सूर्य की किरणों से प्रकाशित होजाते हैं उसी प्रकार षड्ज नाद के उपस्थित हो जाने पर सभी स्वर समूह प्रकट होजाते हैं। रकार के साथ उसका योग होजाने पर अर्थात् अग्नि के भी मिल जाने पर वायु की गति बिखरती है। मकार चन्द्रमा का वीज हैं जिसके अंकुरित होजाने पर सभी दूषित हवायें शुद्ध हो जाती हैं जिससे सद्विचार की जागृती होती है।

सदारोच्चारेण कलुषगिरिग्रामो विदहते।
विलासाच्छीतांशौ कलुषितप्रवायुम् विधमति।।
तथौंकारादौ भास्करद्युतिसमावेशनिगमः।
अतो भानोर्वंशे चसमभवद्रामो हि प्रणवः।।१८।।

अन्वय—सदा र-उच्चारेण कलुष गिरि ग्रामो विधहते शीतांशौ विलासात् कलुषित प्रवायुम् विधमति। तथा ओंकारादौ भास्कर द्युति समावेशनिगमे अतः च भानोः वंशे प्रणवः रामः समभवत्।

अर्थः—स्वरगत रे र का प्रतीक है जो अग्नि का वीज है। इसके उच्चारण अथवा क्रियात्मक सस्वर (श्रुतिसम्मत) प्रयोग से वह पाप के पर्वत समूहों को नष्ट कर देता है और चन्द्रमा में प्रविष्ट होकर वह आनन्द प्रदान करने वाले चन्द्रमा का वीज है जो कि संगीतशास्त्र में मध्यम स्वर के नाम से जाना जाता है। सस्वर प्रयोग में यह सिद्ध भी होजाता है और यह सूक्ष्मता के साथ अनुभव में भी आता है कि शरीरमें वढ़ी हुयी कलुषित वायु व अन्यप्रकार के प्रदूषण जो वैचारिक विषमता के कारण उत्पन्न होते हैं उसके प्रभाव से भस्म होजाते हैं यानी वह प्रभावशाली प्रयोग बढ़े हुये सभी प्रकार के आपातों को नष्ट करदेता है। अतः ओंकार के मध्यमें भास्कर का आगमन होने के कारण सूर्य के वंशमें प्रणव ने राम का रूप धारण किया। भाव यह है कि ओम् के अन्दर अ उ म तीन वर्ण हैं जिसमें अ सूर्य का प्रतीक है। अ से वायु का विरेचन होता है तथा वह रेचन क्रिया 'म' तक जाते जाते समाप्त हो जाती है अर्थात् वह विरेचन क्रिया सूर्य व अग्नि वायु के समवेत संयोग से होती है। आ में सूर्य की प्रधानता मानी गई है अतः एकाङ्गी केवल सूर्य के वंशमें प्रणव ने राम का रूप धारण किया। इससे यह भाव निकलता है कि 'राम' शब्द में र + आ + म तीन अक्षर हैं। र अग्नि का बीज 'आ' सूर्य का वीज एवम् म चन्द्रमा का वीज है। इसप्रकार र+आ+म वर्णमें "पृषोदरादीनियथोपदिष्टम" सूत्र से वर्ण व्यत्यय होजाता है अर्थात् जहाँ र + आ + म था वहाँ आ + र + म होगया उसी सूत्र से र के स्थान में उ आदेश होगया और इसप्रकार आगे की निष्पत्ति हुयी इस व्यवस्था से राम और ओम् मे एकाकारता सिद्ध होती है। वर्ण व्यत्यय का प्रसंग व्याकरण की प्राचीन पद्धति से ही है जैसे हिंस धातु से सिंह होजाता है इसमें भी अक्षरों के उलट देने से यानी स को पहले तथा ह को बाद में करदेने से सिंह शब्द बनता है उसी प्रकार र + आ + म में भी र को बीच में करके उ आदेश होने पर ओंकार होजाता है जो राम का सूचक वाचक है और यही सृष्टि समष्टि शक्ति और ब्रह्म की एकता अद्वितीयता का परिचायक है जो शब्द व स्वरों के जप भाव से समझा जासकता है।

मषड्जसम्वादे भुवनपतिरामो विजयते।
द्वितीये तच्छक्तिः ऋषभस्वररूपाविजनिता।।
पुराणे सा सीता सकलमुनिगीता प्रभु परा।
सहायः सौमित्रः पवनसुतदासोहिरघुपः।।१९।।

अन्वयः— मषड्ज सम्वादे भुवनपति रामः विजयते। तच्छक्तिः द्वितीय (स्थाने) ऋषभ स्वररूपा विजनिता। सा पुराणे सकल-मुनिगीता सीता (कथिता या) प्रभु परा। सौमित्रः सहायः पवनसुत दासो हि रघुपः।

अर्थः—षड्ज एवम् मध्यम पञ्चम के सम्वाद पर संसार के स्वामी राम सर्वोत्कृष्ट रूप में दिखाई पड़ते हैं। बिना शक्ति का योग हुये कोई भी स्वरूप प्रकट हो नहीं पाता। अर्थात् शक्ति ही सम्वाद है अतः किसी राग इत्यादि के लिये अथवा उसके प्रस्तुतीकरण में ऋषभ स्वर प्रत्यक्षाप्रत्यक्षरूप उसका रहता ही है। उसी प्रकार उसी ऋषभ स्वर स्वरूपा शक्ति को पुराणों में सीता नाम से जाना गया है जिसको मुनियों ने मुक्त कण्ठ से कहा है। जो कि प्रभु परक है अर्थात् विना सा के उसका उच्चारण सम्भव नहीं है।

लक्ष्मण जी उनके साथ देने वाले सम्वाद स्वरूप भाई हैं पवनसुत हनुमान जी उनके भक्त हैं ऐसे प्रभु 'सा' के मूलाधार जगके प्रतीक हैं। कहने का भाव यह है कि रा शब्द के बीज तीन हैं। र + आ + म है। इनमे र अग्निका बीज है आ सूर्य का बीज है और म चन्द्रमा का बीज है। उसी प्रकार सा सूर्य का बीज है र अग्नि काबीज है म चन्द्रमा का बीज है इस प्रकार तीनों बीज स्वर और राम दोनों में हैं अतः इसपर राम की उत्कृष्टता बताई गई है।

पुराणे या दुर्गा नवस्वरसुगाद्या सृजनिका।
त्रिलोकेषु व्याप्ता भुवननिखिलानाभ्रमयति।।
विनास्वारमविश्वः नहिं वचनमात्रम् हि ब्रुवते।
अतस्ते हे दुर्गे!सुमतिपथरूपे ऽस्तिप्रणतिः।।२०।।

अन्वयः—पुराणे या दुर्गा नवस्वरसुगा, (सा) आद्या सृजनिका। (सा) त्रिलोकेषु व्याप्ता भुवननिखिलाम् आभ्रमयति। स्वारम् विना विश्वः नहिं वचनमात्रम् ब्रुवते। अतः हे दुर्गे! सुमतिपथ रूपे। ते प्रणतिः (अस्ति)।

अर्थः—पुराणो में जिसको दुर्गा कहते हैं उसकी संख्या नव है अचोंकी भी वही संख्या है अतः दोनों तुल्य हुये। किन्तु पुराणोक्त शक्ति दुर्गा है अर्थात् जो कष्ट सहकर प्राप्त की जा सकती है वही शक्ति नव स्वर के रूप में सहजता से प्राप्त की जा सकती है। वही आद्या शक्ति है सृजनका कार्य भी वही करती है और वही तीनों लोकों में व्याप्त है तथा सम्पूर्ण भुवनों को सृष्टि के आरम्भ से लेकर भ्रमके कारण दुर्विज्ञेय है उसी प्रकार अचों के आपातवृत होने के कारण स्वरों की अभिव्यक्ति में नाना प्रकारके नाभि से लेकर कण्ठ तक के उच्चारण विकृत से प्रतीत हो रहे हैं। जबकि बिना स्वर की सहायता लिये किसी भी व्यञ्जन का सम्यक् उच्चारण नहीं किया जा सकता। अतः हे माता दुर्गा जी जो सुमति के मार्ग के रूप में स्वयम् उपस्थित हों तुम्हारे लिये मेरा बार-बार नमस्कार है वह सहजता मुझे प्रदान करो।

चतुर्थे चन्द्रस्थः शिखरश्रुतिशम्भौ च श्रयते।
अतो हृष्यञ्छर्वो ललितनिजभाले व्यलसयत्।।
सदा शान्ते मार्गे निरूपधिशिवानन्दरसिकः।
निराधाराधारे भवजलधिपारे विहरते।।२१।।

अन्वयः— च चतुर्थे चन्द्रस्थः शिखरश्रुतिशम्भौ च श्रयते अतः शर्वः हृष्यन् ललितनिजभाले व्यलसयत् (अयम् चतुर्थः) सदा शान्ते मार्गे निरूपधिशिवानन्दरसिकः। निराधाराधारे भवजलधिपारे विहरते।

अर्थ—चतुर्थ स्वर चन्द्र का वीज है अतः उसकी स्थिति वहीं मानी गयी है। वह शिखर श्रुति अर्थात् पञ्चमस्वर के साथ जब योग करता है तो उसे शिव की प्राप्ति हो जाती है इसीलिये शिव जी चन्द्रशेखर कहे जाते हैं क्यों

कि प्रसन्न होकर शिव जी ने उसको अपने मस्तक पर धारण कर लिये। चन्द्रमा इसीलिये शान्त मार्ग पर चलता हुआ निरूपाधि शिव जी में विलास करता है। निराधार होने पर भी उसको शिव का आधार मिल जाने पर संसारसागर से ऊपर विहार करता है जबकि उसकी उत्पत्ति समुद्र से हुयी है किन्तु शिवत्व की प्राप्ति से निराधार आकाश में स्थित होता हुआ (शिव) आनन्द का विलास करता है उसी प्रकार साधक भी निराधार होने पर भी शिवत्व की प्राप्ति से भवसागर को पार कर जाता है।

अकारेषड्जत्वमचलगतिमाधाय प्रभुता।
कथम् संगीतज्ञैः विविधविधभेदाः निगदिताः।।
यदाभेदाः प्रोक्तारचलगतितानोपपद ते।
विरोधः शास्त्रेण कथितनिजरूपाद्धि च्यवते।।२२।।

अन्वयः—षड्जत्वम् अकारे (वर्तते) अचलगतिमाधाय प्रभुता (तर्हि) संगीतज्ञैः कथम् विविधविध भेदाः निगदिताः। यदा भेदा प्रोक्ता (तदा) (तस्य) अचल गतिता न उपपदते (इत्यम्) शास्त्रेण विरोधः स्यात् कथित निज रूपात् च्यवते।

अर्थः—कोई पदार्थ अपने अवच्छेदक धर्म से अवच्छिन्न होता है। अतः षड्ज भी अपने अवच्छेदकधर्म षड्जत्व से अवच्छिन्न है। अकार और षड्ज में अभेद सम्बन्ध होने से अकार भी उससे अवच्छिन्न माना गया है। जो कि अविचालि निष्क्रिय निरूपधि निरूप है अतः उसमें भेद सम्भव नहीं है। उसका जब अविद्योपाधि से संपर्क होता है तो उसी से सृष्टि तो होती है परन्तु अकार यानी षड्ज के पहले (सप्तकमाध्यम) से निाषाद तथा उसके बाद त्रषभश्वर अपने दो रूपों सहित विद्यमान हुआ। यही पहली सृष्टि है। इस प्रकार से षड्ज को विकृत होने का प्रश्न ही नहीं उठता तो उसमें श्रुति रूप भेद कैसे तथा वह श्रुतिवान कैसे? इस सत्युक्ति के आधार पर संगीतज्ञों ने उसका भेद कैसे

दिया कि वह श्रुतिवान् है। इस प्रकार से षड्ज की अचलता अनुपपन्न होगई जो उसको मान्य नहीं है। इस प्रकार अपने ही भेद से क्या वह अपनी अचलता भी बनाये रख सकता है? "नाति निपुणो नटः स्वस्कन्ध मारोढुर्महति" अर्थात् कोई भी चतुर नट अपने ही कन्धे पर नहीं बैठ सकता उसी प्रकार अचल षड्ज अपना भेद नहीं सिद्ध कर सकता क्योंकि यह भेदवादी युक्ति शास्त्र विरूद्ध है और शास्त्र विरूद्ध बातें एकाग्रता शान्ति व विकास क्रम में बाधक हैं अतः षड्ज का जो अविचालि रूप कहा गया व मान लिया गया उससे उसका स्खलन सिद्ध होता है क्योंकि षड्ज ही नाद विन्दु है इसी पर इत्थमछिन्ने मूले नैव पत्रम् न शाखा। जैसी युक्ति लागू भी होती है।

अविद्योपाधित्वे भजतिसृजनात्मैकपदवीम्।
पृथक्त्वेऽविद्यातोऽनुरणक्रिया नापि लभते।।
यदा स्वारे योगे ऋषभपदयोगम् हि कुरूते।
विभेदो वै नादे रिगधनियाम् श्रौताशिकरः।।२३।।

अन्वयः—(सः षड्जः) अविद्योपाधित्वे (संजाते) सृजनात्मैकपदवीम् भजति। अविद्यातः पृथक्त्वे अनुरणन क्रिया अपि न लभते। यदा नादे स्वारे योगे ऋषभस्वरयोगम् हि कुरूते। रिगमधनियाम् श्रौतशिखरभेदः वै (भवतीतिशेषः)

अर्थः—वह षड्ज जो अकार के रूप में है केवल प्रतिभासित होता है और वह इसप्रकार से अच्युत रूप है। जिस प्रकार अच्युत अपने पद से कभी भी च्युत नहीं होता उसी प्रकार षड्जभी अपने निज स्थान से च्युत नहीं होता इसीलिये उसको अविकारी कहा गया है अतः उपरोक्त आधारों से षड्ज का कोई भी भेदसिद्ध नहीं होता। यदि भिन्नता को उसपर आरोपित भी किया जाय तो अविद्योपाधि रूप ऋषभ के संयोग से ही सम्भव है। उसी के संयोग से वह सृजनात्मक पदवी को लब्ध करता है बिना उसका संयोग हुये अर्थात् उसकी विभक्तता में अनुरणन रूप क्रिया सम्भव नहीं। जब नाद गत स्वर षड्ज ऋषभ

के साथ होजाता है। तो रिगमधनी के भेद रूप में श्रुति सिद्ध होती है। अतः षड्ज और पञ्चम स्वर श्रुति भेद के अन्तर्गतनहीं आते।

प्रगीते संगीते नहिं विषयज्ञानम् प्रभवति।
ऋते सृष्टेः ज्ञानादखिलस्वरतावैदिकक्रिया।।
सदानष्टप्रायो च स्वररसिको नैव यमितो।
अविद्याप्लावेषु सततवहमानो प्रमदते।।२४।।

अन्वयः—संगीते प्रगीते नहिं विषयज्ञानम् प्रभवति। सृष्टेः ज्ञानात् अखिल स्वरता वैदिक क्रिया च नष्ट प्राया स्वर रसिकः नैव यमितः। अविद्याप्लावेषु सतत् वहमानः प्रमदते।

अर्थः—संगीत के गायन मात्र से ही विषय का पूर्ण ज्ञान नहीं होपाता। संगीत जगत की सृष्टि व उसके संतुष्टिदायक ज्ञान के बिना संपूर्ण स्वर ज्ञान तथा वैदिक क्रियायें नष्ट प्राय हैं क्यों कि संगीत स्वर साधन क्रिया बल आनन्द सहित आराधना सूचक है। संगीत साधन यमादि का निमित्त है उसका फल नहीं है। यम से वञ्चित साधन शुष्क वृक्षवत् है। अविद्या की बाढ में बहते रहना गिरते रहना संगीत साधन का यर्थाथ नहीं है। संगीत साधन अविद्या को घटाने व उसे जड़ मूल से नष्ट कर देने के लिये है। अयम जस्य गीयते तस्यैन्यैनैव —जैसे भेद युक्त अभिमान के लिये नहीं है।

सदा ब्रह्मानन्दे विहरतिजनो नादरसिकः।
निरोधोऽविद्यायाः सृजननवज्ञानस्य प्रमितौ।।
यथा कूर्मोऽङ्गानि निलयनक्रियालम्व्य विशते।
स्वगात्रेषु तच्चैवं सकल विधिक्लेशम् हि ह्रसते।।२५।।

अन्वयः—नाद रसिकः जनः सदा ब्रह्मानन्दे विहरति। सृजन नव ज्ञानस्य प्रमितौ अविद्यायाः निरोधः। यथा कूर्मः स्वगात्रे अङ्गानि निलयन क्रिया लम्व्य विशते तच्चैवम् सकल विध क्लेशम् हि ह्रसते।

अर्थ—नाद के रस को जानने वाले व्यक्ति विशेष हमेशा नाद ब्रह्म में विहार करते हैं संगीत जगत की सृष्टि (रसो वै सः) रस ज्ञान का प्रत्यक्षीकरण होजाने पर अविद्या का निरोध होजाना स्वाभाविक है वह निरोध ज्ञान कर्म इन्द्रियों व प्राण मन विचार तथा सभी धातुओं के सहित जाग्रत स्वप्न व सुषुप्ति तक से होजाता है जिस प्रकार कच्छप अपने शरीर में इन्द्रियों सहित बहिर्मुख अंगों को छिपा लेने वाली क्रिया के द्वारा आभ्यन्तर में समेट लेता है उसी प्रकार अविद्या का सर्वदेशीय निरोध होजाने पर सभी प्रकार के क्लेश व कंठगत आपात लीन होजाते हैं अर्थात् गुह्यतम राज विद्या प्रभाव से सभी दोष भेद विकार विचार क्षय को प्राप्त हो जाते हैं इस प्रकार संगीत जगत में रसनिष्पत्ति के लिये स्वर साधन की प्राथमिकता है जिसे राजविद्या नाम से जाना गया है दूसरे शब्दों में इसी को अ का जप कहते हैं वही अजपाजप है नाद ब्रह्म उस विद्या की उपदेयता है।

सशारीरम् ज्ञानम् सहजशिवरूपमकृत्रिमम्।
तदात्मासाक्षित्वे चरमचरजीवो हि भवति।।
क्रियानन्देमग्नो रहितपरमानन्द विभवः
तिरोभावाविद्यः कथमिति च जातोऽतिचकितः।।२६।।

अन्वयः—सशरीरम् ज्ञानम् अकृत्रिमम् सहज शिवरूपम् (अस्ति)। तत् + आत्मा साक्षित्वे चरमचर जीवः भवति। क्रियानन्दे मग्नः रहित परमानन्द विभवः (भवति) कथम् तिरोभावाविद्यः जाताः (अस्मि) इति चकितो भवति।

अर्थः — कुछ लोगों का ज्ञान पूर्व संस्कार के फलस्वरूप शरीर जन्म के साथ ही होता है जिसको जन्मजा सिद्ध ज्ञान कहते हैं वह ज्ञान सहज शिवरूप और अकृत्रिम आश्चर्यवत् है। उसका साक्षात्कार होजाने पर जीव अपनी परम उत्कृष्ट सीमा पर पहुँच जाता है। जो क्रिया साधनों में ही मग्न रहते हैं वे परमानन्द के अनिर्वाच्यय परमैश्वर्य को नहीं जान पाते, क्यों कि विभूति अर्थात् वैभव के वश में चक्कर लगाते रहते हैं। परमानन्द के वैभव

दर्शन से अविद्या का तिरोहण कैसे होजाता है। यही आश्चर्यचकित करने वाला है।

टिप्पणी— जन्मज ज्ञान व जन्मजा सिद्धावतार को समझने के लिये सगुणनिर्गुण रूपसे समझना चाहिये। इस ज्ञान व्यवस्था के अन्तर्गत जन्म तो शरीर का होता है अवतार निर्गुण परम तत्व का होता है जन्मजा सिद्ध वे हैं जिस शरीर का जन्म के साथ-साथ परमतत्व भी प्रकट हो जाता है। ऐसे स्थल पर आत्मा के साक्षित्व के कारण उस शरीर में अविद्या का प्रवेश नहीं हो पाता। जन्मज ज्ञान वालों में क्रियासाधनों के लय होजाने से अविद्या निरोध के लिये वह परमतत्व प्रकट होता है जो कि जन्मजा सिद्धावतारों में प्रकट होता है। चूँकि ब्रह्मतत्व-परमतत्व अथवा आत्मा इत्यदि सभी सम्बोधन एक ही है चाहे वह राम कृष्णादि का अवतार हो अथवा वेदव्यास शंकराचार्य का हो इसमें कार्य भिन्नता एवं आगमन का लक्ष भले ही भिन्न हो पर ज्ञान की कक्षा एकही है। और ज्ञान स्वरूप परमतत्व भी एकही है।

अवैद्येयापाते स्वरजनितपूजवजनितम्।
चिदात्माप्राकट्यम् तदविषयत्वाचञ्च भवति।।
स्वलक्ष्येसम्प्राप्तिः व्रतनियमयोगैर्नु कुरूते।
क्रियायाम्निष्ठत्वात्निलयशिवरूपञ्चलभते।।२७।।

अन्वयः—अवैद्येयापाते पूजावजनितम् चिदात्माप्राकट्यम् च तदविषयत्वाचम् भवति (यः) नुव्रतनियमयोगैः स्वलक्ष्ये सम्प्राप्तिः कुरूते क्रियायाम् निष्ठत्वात् च निलय शिव रूपम् लभते।

अर्थः—अविद्या जनित आपात उत्पन्न होजाने पर उसको नष्ट करने का माध्यम केवल अचार्चिक साधन है जिसका सस्वर पाठ सभी वर्णोच्चारण के साथ किया जाता है। सभी मन्त्र जपों का मूल स्वर व वर्ण ही हैं जो चिदात्मा के प्राकट्य का मूल स्रोत है चिदात्मा का सगुण रूप स्वर व वर्ण ही हैं और दोनों

ही अनुभव गम्य हैं पर अदृश्य हैं। चिदात्मा स्पर्श का विषय नहीं है वह स्पर्श का अविषय है अर्थात् स्पर्शायोग है। कोई वृत्ति विकार गुण क्रोधादि व आवेश उसको छू नहीं सकते। चिदात्मा की प्राप्ति का लक्ष सभी साधकों का जल्दी नहीं बनता अधिक से अधिक भोगजनित वैभव की ही कामना करते हैं।

इस प्राकर जो नियम व्रत के माध्यम से अपने लक्ष की सिद्धि चाहते हैं उन्हें स्वरूप की प्राप्ति नहीं साधन की पराकाष्ठापर पहुँचने के पश्चात् विभूति अर्थात् वैभव की प्राप्ति होजाती है। चूँकि व्रतादि साधनों में क्रिया योग का लय (सहज) नहीं हो पाता इस लिये विभूति सम्भावित है जो शिव का भोगजन्य वैभव है।

स्वरूप प्राप्ति का साधन सस्वराचार्चिकाः यह अभ्यास ही शिव स्वरूप में लेजाने वाला है जो शक्ति व भक्ति दोनों से जुड़ा है।

टिप्पणीः—वल्मीक तडन से सर्प की मृत्यु सम्भव नहीं क्यों कि वल्मीक (यानी शरीर) के अन्दर सर्प की स्थिति है। उसी प्रकार व्रत नियम सकाम स्वर साधनादि से केवल शरीर की कृशता सम्भव है न कि आत्म साक्षात्कार। आत्मसाक्षात्कार के लिये जीवात्मा और परमात्मा में अभेदत्व को सिद्ध करने वाले साधन सामग्री की आवश्यकता होती है जिसके साधन से अभेद का प्रभाव प्रकट होने लगे वह अचार्चिक पद्धति ही है। यही सशारीरम् जन्मज ज्ञान की दिशा में लेजाने वाला एक साधन है। यह साधन सकाम सधनाओं की तरह लगुड प्रहार करने जैसा साधन नहीं है कि सर्प के बिल पर लाठी प्रहार करते रहने से कहीं सर्प की मृत्यु होसकती है? भाव यह कि सांप की मृत्यु लय है लाठी प्रहार सांप के बिल पर नहीं सांप पर करनी चाहिये। यही है क्रिया योग लयानन्तरम्"।

इस प्रकार आज के संगीत साधक ज़ो रागों में भ्रमण कर रहे हैं महत्वाकांक्षी होने के कारण साधन सम्बन्धी उनमें अहंभाव स्वाभाविक है और वह वल्मीक ताडन जैसा ही है। इस लिये संगीत जगत की गौरव गरिमा को समझते हुये उसके

वास्तविक रूप को आखिर कौन समझेगा? योनि से निकल योनि में ही नहीं जाना है। उससे उबरना है। वास्तव में संगीत का शास्त्र व उसका साधन योनि से उबारने केलिये है उससे पृथक होना पुनरागमन सूचक है।।२७।।

स्वरूपेवस्थानम् मुनिजनगिरातीतमनिशम्।
मनोवैतद्योगादखिलपरमेशे विलयति।।
न घोरे संसारे परमपदभिन्नो हि सुखदः।
चिदानन्देसत्येऽकलपरमनादेसुविरमे।।२८।।

अन्वयः—अनिशम् मुनिजनगिरातीतम् स्वरूपे अवस्थानम्। वै तत् योगात् मनः अखिलपरमेशे विलयति। घोरे संसारे परमपद भिन्नः सुखदः न (किञ्चित्) चिदानन्दे, सत्ये, अकलपरम नादे सुविरमे।

अर्थः—निरन्तर मुनियों को भी वाणी से अतीत स्वरूप अर्थात् आत्म रूप की स्थिति में स्थित होना है। मनका आत्मा के साथ योग होने पर वह परब्रह्म परमात्मा के रूप में विलीन हो जाता है। इस घोर संसार में परम पद से बढकर कुछ भी सुख देने वाला पदार्थ नहीं है इसलिये सत् चित् एवम् आनन्द स्वरूप उस कला रहित परम नाद में विश्राम लेता हूँ और विश्राम लेना ही श्रेयस्कर है संगीत साधकों तथा अन्यमार्गावलम्बियों का यही परम लक्ष है।

भ्रमन्तः संसारे सकलमुनिवृन्दाः विगलिताः।
पुना रागे रागः भवविभवव्यासिक्तमतिकाः।।
श्मशानेष्वावालम् विजितनिजकालम् हि तपसा।
शयानम् भूमौचासित गलरतम् नौमि पुरूषम्।।२९।।

अन्वयः—संसारे भ्रमन्तः सकल मुनि वृन्दाः विगलिताः। पुनः रागे रागः भवविभव व्यासिक्त मतिकाः। आवालम् श्मशाने हि तपसा विजित निज कालम् भूमौ शयानम् असित गलरतम् पुरूषम् नौमि।

अर्थः—संसार में भ्रमण करते हुये मुनि लोग भी अपने मार्ग से भ्रष्ट होते देखे गये हैं। फिर-फिर रागमें उनकी आसक्ति बढती गयी। बचपन से लेकर साधनरत तत्ववेत्ता स्वरज्ञ एवम् श्मशान पर बैठ कर तपस्या के द्वारा जिसने बहुमूल्य समय को पार करदिया है। अथवा अपनी विशिष्ट अर्चनातप द्वारा काल को भी जिसने जीत लिया और विभूति अर्थात् वैभव सम्पदादि से विमुख भूमि पर शयन करते हुये नीलकण्ठ शिवजी की भक्ति में अनुरक्त भक्त को मैं नमस्कार करता हूँ।

सुधांशोर्भालस्थादमृतरसस्रावोऽनुदिवसम्।
सदा कुण्डे नाभेः रतमृतह्रदरूपेऽनुपतति।।
विनाजिह्वास्वादम् नहिंसकलस्नायौ विभजते।
सुसेव्येचैकारे रसनविधि ज्ञानम् प्रणिहितम्।।३०।।

अन्वयः—भालस्थात् सुधांशोः अनुदिवसम् अमृत स्रावः सदा अमृत ह्रद रूपे नाभेः कुण्डे अनुपतति। जिह्वास्वादम् विना हि सकल स्नायौ न विभजते। च सुसेव्ये एकारे रसन विधिज्ञानम् प्रणिहितम्।

अर्थः—भालस्थ चन्द्रमासे प्रतिदिन अमृत रस का स्राव·होता रहता है। जब वह नाभि के अमृतमय कुण्ड में गिरता है तो विना जिह्वा से आस्वाद लिये उसका विसरण सभी स्नायु तन्तुओ व धातुओं में नहीं हो पाता अतः एकार सम्बद्ध स्वर अर्थात् मध्यम की आराधना में आस्वाद की प्राप्ति सम्भव है। कपाल कुहर में जिह्वा को लम्बी बनाते हुये लेजाकर मांस पिण्ड चाटने से चन्द्रामृत रस की प्राप्ति हठता युक्त मृत्यु सूचक है अर्थात् इस युक्ति से चन्द्र रस प्राप्ति की केवल कल्पना है। ऐसे पन्थियों को गोमांस भक्षी कहा गया है। गो माने ज्ञान अर्थात् ज्ञान प्राप्ति के लिये कपाल कुहर में मांस पिण्ड को चाटने का प्रयत्न अज्ञान सूचक है। इस प्रयत्न से अमर तत्व ज्ञान सम्भव नहीं। भाव यह है कि मध्यम स्वर की अर्चना से चन्द्रगत माधुर्य एवं अमृत

औषधि के प्रभाव का अनुभव स्वाभाविक एवम् ध्रुव सत्य है। एकार के ज्ञान व बोध से अद्वैतामृत तत्व का ज्ञान होता है। किसी दुर्दर्श वस्तु की प्राप्ति हठता से नहीं हठता माया शक्ति को चुनौती है इस प्रकार की चुनौती में त्रुटि का समावेश स्वाभाविक है चुनौती तो माया शक्ति का एक षड्यन्त्र ही है ऐसे ही लोग मायाशक्ति को न समझ पाने के कारण ठगिन जैसे परूष वचन से सम्बोधित कर डाले हैं। जो कि अज्ञान मूलक है।

विधात्रीधर्माणामखिलनिगमाधीशसुप्रिया।
यथारथ्यापाथम् सुरसरिजलापृक्तविमलम्।।
तथैव भक्ते हे! नहिं त्वदविरलसेवाभिपविताः।
सुज्ञान-वैराग्ये तव च कृपयात्ते सरलतः।।३१।।

अन्वयः—हे भक्ते! (त्वम्) धर्माणाम् विधात्री, अखिल निगमाधीश सुप्रिया (अस्ति) यथा रथ्यापाथम् सुरसरिजलापृक्त विमलम् भवति। तथैव त्वदविरल सेवाभि पविताः (स्म) सुज्ञानवैराग्ये तव कृपया सरलः आत्ते।

अर्थः— हे भक्ति तुम्हीं सभी धर्मों का विधान करने वाली परम प्रेम रूपा व अमृत स्वरूपा हो तथा सम्पूर्ण निगम एवम् आगम के एकमात्र सेव्य परब्रह्म परमात्मा को अत्यन्त प्रिय हो। जिस प्रकार गंगा जी के जल से सिंचित गली का मार्ग पवित्र हो जाता है उसी प्रकार तुम्हारी अखिल सेवा से हम सभी चिन्तनशील साधक पवित्र हो जाते हैं। यहाँ तक कि ज्ञान वैराग्य भी तुम्हारी कृपासे सरलतया प्राप्त होते हैं। तुम्हारी अनुकम्पा हम साधकों पर सदा बनी रहे।

सुभक्तिः भक्तानाम् मधुरवचसामाप्रणयिनी।
इयं शक्तिर्भक्तिः विभवपरित्यगाद्धि भवति।।
प्रवेशोऽविद्यायाः परूषस्वरभासाऽमधुरता।
अतो सेव्याविद्या भवजलधिनाव्यो हि भजतः।।३२।।

अन्वय—भक्तानाम् सुभक्तिः मधुरवचसाम् आप्रणयिनी (भवति) इयम् भक्तिः शक्तिः (अस्ति) विभवपरित्यागात् हि भवति। अविद्यः प्रवेशे परूषस्वरभासा अमधुरता अतः विद्या सेव्या भजतः भव जलधिनाव्यः (भवति)

अर्थ—भक्तों के द्वारा की जाती हुयी भक्ति शरीर में मधुरवाणी का संचार कर देती है यही भक्ति आदिशक्ति है जो ऐश्वर्य के त्याग द्वारा ही प्राप्त होती है। अविद्या प्रवेश या उसके संचालन व्यवस्था में कठोर वाणी से अवभासित रुक्षता आजाती है। भजन साधन चिन्तन करने वालों के लिये संसार रूपी सागर नाव से पार करने योग्य बन जाता है।

अये विद्यासक्ताः भवविभवत्यागम् न क्रियते।
गते कुम्भीपाके निजकृतविपाके विजहिताः
निराधाराधारम् भव जलधि पारम् भजत रे।
सहायां भक्त्येकां सुजनजन विशोकां श्रयत रे।।३ ३।।

अन्वय— अये विद्यासक्ताः भवविभव त्यागम् न क्रियते। निजकृत विपाके कुम्भी पाके विजहिताः (भविष्यथ) निराधाराधारम् भवजलधिपारम् भजतरे। सुजनजन वशोकाम् सहायम् श्रयत रे।

अर्थ—अरे विद्यामें अनुराग रखने वालों ! तुम्हारे द्वारा सांसारिकऐश्वर्य का त्याग नहीं किया जारहा है। अपने निम्नदेशीय कर्म के परिणाम स्वरूप कुम्भीपाक में गमन करने पर त्याग दिये जावोगे अर्थात् सांसारिक ऐश्वर्य से कोई सम्बन्ध नहीं रह जायगा। अतः निराश्रितों के भी आधार भवसागर से पार करने वाले प्रभु का भजन करो तथा सज्जन वृन्द को शोक रहित करने वाली तथा सदा साथ देने वाली मात्र एक भक्ति का ही आश्रय लीजिये। जो कटुता हठता द्वेषादि भावों से सदा पृथक् मात्र प्रेम रूपा और अद्वितीय है।

पुरश्चैषामाया त्रिभुवननिकाया ऋषभजा।
न यन्तव्यास्नेहादखिलस्वरज्ञानायरभसा।।
प्रवेशो चैतस्याम् कठिनमपि कार्यम् सुसरलम्।
भवेच्चेन्निर्बन्धे परमबलशीलाः विफलिनः।।३४।।

अन्वयः— पुरः च ऋषभजा एषा माया त्रिभुवन निकाया (अस्ति) अखिल स्वर ज्ञानाय रभसा न यन्तव्या स्नेहात् अस्याम् प्रवेशे कठिनमपि कार्यम् सुसरलम् भवेत् निर्बन्धे चेत् परमबलशीलाः विफलिनः अभूवन्।

अर्थः—प्रत्यक्ष ऋषभ स्वर से निकली हुयी वह शक्ति। तात्पर्य यह है कि शक्ति रूपी माया त्रिभुवन का निवास स्थान है। सम्पूर्ण स्वर का ज्ञान प्राप्त करने के लिये उसको नियन्त्रित नहीं किया जासकता वरन् उसमें स्नेहपूर्वक प्रवेश किया जाना सम्भव है। इस शैली से कठिन से कठिन कार्य सरल हो जाते हैं। यदि उस शक्ति रूपी माया से कोई जोर जबरदस्ती-अर्थात् हठता करता है तो बहुत बड़े-बड़े बलशाली विफल होगये हैं कोई भी ऋषभ स्वरूप माया से जीत नहीं पाया है। चूँकि माया ही माँ है अर्थात् त्वमेव माता च पिता की दृष्टि से माया ईश्वर अभिन्न हैं उसी प्रकार जैसे बिना ऋषभ के षड्ज जो मूलाधार है कुछ भी नहीं है। इस प्रकार जब माया ही भक्ति रूप में प्रकट होजाती है तभी ज्ञान वैराग्य व शिवत्व का बोध सम्भव होपाता है। इस प्रकार माया शक्ति को चुनौतीपूर्ण अभद्र कठोर संबोधनों व हठ साधनों से उसके धवलत्व को प्राप्त करना असम्भव है।

तम्बूरावाद्यादौ विरजद्युतिताराध्वनिमयी।
समुद्भूताविन्दोर्जगतनिखिलानन्द ब्रह्मणि।।
भ्रमन्तः प्राज्ञास्ते भवभयमपास्यापि रसिकाः।
गतिस्तेषांनादे जनितहृदि ह्लादे सुमतयः।।३५।।

अन्वय—विन्दोः समुद्भूता विरजद्युति तारा ध्वनिमयी (भवति) ते सुमतयः प्राज्ञाः भवभयम् अपास्य जगति निखिलानन्द ब्रह्मणि भ्रमन्तः रसिका (भवन्ति) (यतोहि) जनित हृदि ह्लादे नादे तेषां गतिः।

अर्थ— जब तम्बूरा जैसे प्रभावशाली वाद्यों पर नाद विन्दु से उत्पन्न हुयी स्वच्छ कान्ति यानी ओज युक्त तार की ध्वनि होती है तो वे अर्थात् संगीत साधक सुमति जीव सांसारिक भयों को दूर फेंक कर सांसारिक स्थिति में भी अखिल आनन्दमय ब्रह्म में भ्रमण करते हुये रस रूप ब्रह्म के आस्वादक हो जाते हैं। क्योंकि हृदय में ह्लाद उत्पन्न करने वाले नाद में ही उनकी गति है अर्थात् अन्य साधनो सें सांसारिक दशा में आनन्द की प्रगति एवम् विद्यागत ब्रह्म और माया के आनन्द स्वरूप अभेदत्व को प्राप्त करना सम्भव नहीं।

अपानेशश्चन्द्रे रसितस्वरवृन्दे विकुरूते।
अपाम् वृद्धौ नादे पवनगति रेचश्च भवति।।
विशुध्यर्थमंगे विहरति निकुञ्जे हि नभसः।
चतुर्थे तीव्रत्वम् विकथित विकारच्च लभते।।३६।।

अन्वय—नादे अपाम् वृद्धौ अपानेसः चन्द्ररसित स्वरवृन्दे विकुरूते च पवन गति रेचः भवति। अङ्गे विशुध्यर्थम् नभसः निकुञ्जे विहरति। च विकथित विकारात् चतुर्थे तीव्रत्वम् लभते।

अर्थ— नाद विद्या के साधन काल में भी अपों की वृद्धि अर्थात् कार्यविचार के समय में अशुचि का आगमन ही आगन्तुक है इस दशा में वायु का दूषित हो जाना स्वाभाविक है और पथ च्युतताभी स्वाभाविक है। अर्थात् अपान वायु की शुद्धि के विना स्वर ज्ञान की सिद्धि सम्भव नहीं है। स्वरों की सृष्टि को जानना ही ज्ञान है। इसमें अप वायु का देवता कौन है इसको जान लिये विना किसी भी प्रकार की गायकी अपूर्ण है। यह पहले कहा जा चुका है कि अपान वायु का देवता चन्द्रमा है इस प्रकार अपान वृद्धि के कारण चन्द्रमा का

विधिवत् ध्यान करते हुये चन्द्रमा व मध्यम स्वर की विंकृती को समझनेसे साधन प्रशस्त होता है और अनुरणित स्वर समूहों में केवल शुद्ध मध्यम स्वर ही ऊर्ध्वगामी होता है जिसकी विकृती को तीव्र मध्यम की उपाधि दी गई है इस प्रकार मध्यम स्वर के ऊर्ध्वत्व रूपमें पवन की गति उसमें सम्मिलित रहती है। अवयवों की शुद्धता प्रदान करने के लिये ही वह चन्द्रमा का आकाशीय (आकाश के निकुञ्जमें) विहार है और इस प्रकार चन्द्रमा का विलक्षण विहार ही तीव्र मध्यम सूचक है और यही उस चन्द्रमा की विकृती है। वास्तव में यही चन्द्रमा संगीत के मध्य स्वर में स्थित होने के कारण साधन काल से लेकर समष्टि व्यष्टि में अपान वायुको शुद्ध करता रहता है जिसका प्रभाव लता पुष्प फल वृक्ष वनस्पति और औषधियों का स्वस्थ्य बनाये रखता है।

चतुर्थेंतीव्रत्वे उपरिगतवायुश्च शमयति।
प्रकृत्यायद्वक्रः सरलपथपाथेय नियमः।।
निरोधे चित्तस्य सकलमलमूलञ्च ह्रसति।
विकारे संजाति ससुरस्वर देव्यश्च जहति।।३७।।

अन्वय—चतुर्थेंतीव्रत्वे वक्रः उपरिगत वायुः प्रकृत्या शमति सरलपथ पाथेय नियमः च चित्तस्य निरोधे सकलमलमूलम् ह्रसति विकारे संजाते ससुर स्वर देव्यश्च जहति।

अर्थ— मध्यम स्वर के तीव्र होजाने पर अर्थात् मध्यम (म) स्वर का अधिष्ठाता देवता चन्द्रमा है चन्द्रमा के विकृत होजाने पर तिर्यक् एवम् ऊर्ध्वगामी वायु (जो चन्द्रमा के द्वारा शुद्ध नहीं हो पाती) समष्टि प्रकृति के द्वारा ही संयमित होती है। नियम वह है जो ऋजुमार्ग से लक्ष तक ले जाय विकृत होने पर नियम का उलंघन होजाता है। अतः चित्त का निरोध होजाने पर संपूर्ण मल का मूल क्षीण हो जाता है और उसी में विकार उत्पन्न होने पर स्वर सहित सभी देव एवम् देव्य शक्तियां उसका त्याग कर देती हैं।

कफावृद्धौकण्ठे मृदुलस्वरसेव्यम् ह ऋधयोः।
कृतेनाभ्यासेनानुरणनविधौ स्याच्च विक्रिया।।
विशुद्धिः स्वारेषु नहिं क्वचन ह्राशश्च लभते।
सुराणाम्रक्षार्थम्भवतुनिगमागोनिरसनम्।।३८।।

अन्वयः— ऋधयोः मृदुल स्वर सेव्यम् (अस्ति) कृतेन अभ्यासेन अनुरणन विधौ विक्रिया स्यात्। स्वारेषु विशुद्धिः क्वचन ह्राशश्च नहिं लभते। सुराणाम् रक्षार्थम् निगमगः निरसनम् भवति।

अर्थः—कण्ठ में कफकी अभिवृद्धि होने पर ऋध सम्बन्धी कोमल स्वर का अभ्यास करना चाहिये जिसका साधन समय प्रातः है। इस प्रकार निरन्तर प्रातः अभ्यास करने पर अनुरणन विधि में वह विकार ही विकृत होजाता है अर्थात् विकार जो कण्ठ जगत का अवरोधक है जो अग्नि वायु को प्रधान नहीं होने देता वह नष्ट होजाता है। अतः स्वरों में रेध मृदुल स्वर अभ्यास से विशुद्धता आजाती है। कहीं से किसी भी प्रकार का ह्रास परिलक्षित नहीं होता अतः स्वर की रक्षा के लिये ओ:जस्विता की प्राप्ति आवश्यक है वेदोक्त साधन परम्परा से ही दोष दूर होते हैं।

अपाधिक्येचन्द्रो यदिपवनमेधो हि कुरूते।
विसञ्जनस्वापेषु कफजनितदोषम् जनयति।।
समष्टौ तच्छान्तिः शशिकरसमूहोऽपि पवते।
विशुद्धे शीतांशौ तदधिगतरोगः प्रशमति।।३९।।

अन्वयः—यदि अपाधिक्ये पवनमेधः कुरूते स्वापेषु विसञ्जन कफजनित दोषम् जनयति। तच्छान्ति समष्टौ (भवति) शशिकरसमूहः अपि पवते। शीतांशौ विशुद्धे तदधिगतरोगः प्रशमति।

अर्थ—चन्द्रमा यदि अप की अधिकता होने से वायु उर्ध्वगामी होता है तो उसमें व्याप्त होता हुआ कफ जनित दोष तरह तरह के व्यवधान उत्पन्न करता है उसकी शान्ति फिर समष्टि में होती है। चन्द्रमा की किरणेंभी उसीसे पवित्र हो जाती हैं चन्द्रमा के शुद्ध होने पर उससे उत्पन्न रोग भी शान्त हो जाता है।

टिप्पणी— सूर्य चन्द्र किरणें सृष्टि में अवशिष्ट प्रदूषणों का शमन करती हैं जो प्रदूषण सूर्य के तेज प्रकाश व चन्द्र की शीतलता द्वारा शुद्धीकरण के बावजूद अवशिष्ट रहती हैं उसी का शमन सूर्य चन्द्र किरणें करती हैं इस सृष्टि में पृथ्वी जल अग्नि वायु एवम् आकाश समवेत प्रद्षणों के शमन में सदा ही क्रियाशील रहकर मानव के कल्याण हेतु निःस्वार्थ भाव से कायरत हैं। यह कहना कि पेड़ पौधेही सारे प्रदूषणो को खा जाते है तो जहाँ पेड़ पौधे नहीं हैं वहाँ कौन सक्रिय हो सकता है। सृष्टि में समाधान का एक ही स्थल है वह है संगीत की उपासना।

समष्टौशीतत्वमधितदभिव्याप्यने प्रकृतौ।
कफानाम्संवृद्धिः जननिकरदुःखान् वितनुते।।
अतो वै वोढारमपजनितभारस्य जगतः।
विशुद्धम्शीतांशुम्श्रयतुनिजश्रेयञ्चलभताम्।।४०।।

अन्वयः—समष्टौ शीतत्वम् अधितद् प्रकृतौ अभिव्याप्येन कफानाम् संवृद्धिः जननिकर दुःखान् वितनुते। अतः जगतः अपजनितभारस्य वोढारम् विशुद्धम् शीतांशुम् श्रयतु निज श्रेयञ्च लभताम्।

अर्थः—समष्टि में शीत की व्याप्ति हो जाती है अतः प्रकृति में भी शीत गुण बढ़जाता है जिसमें मानव से लेकर अन्य शरीरों में कफ की अभिवृद्धि हो जाती है। कफ में पृथ्वी व जल अंश की अधिकता के कारण आवज में

उसका अधिक दवाव बना रहता है जिससे गाने व साधन में विशेष कठिनाई होती है इसके कारण जनसमूह दुःख से पीड़ित होजाता है संसार के अपजनित भार का वहन करने वाले चन्द्रमा की शरण लीजिये और जन कल्याण के लिये ही अपना साधन कीजिये।

धपाठो दन्तेषु मलयशशिरूपे विनिहिता।
प्रवृत्तिरीशस्य ऋषभस्वरवेला सु कथिता।।
ऋकारे वीजत्वादनलसहयोगेन ध स्वरः।
पित्तेषु तीव्रत्वम् कलितनव दोषास्य शमिता।।४१।।

अन्वयः—दन्तेषु धपाठः मलयशशि रूपे ईशस्य प्रवृत्तिः विनिहिता (या) ऋषभ स्वर वेला सुकथिता। ऋकारे वीजत्वाद् अनलसहयोगे न ध स्वरः पित्तेषु तीव्रत्वम् (करोति) कलित नव दोषस्य शमिता (च भवति)।

अर्थः— दन्त स्थान कथित वर्णों में धकार काभी पाठ" है। जो मकार में लय होने वाले चन्द्रमा में ईश्वर की वृत्ति रूपमें निहित है। वृत्ति ही शक्ति है जिसको ऋषभ स्वर के प्रसंग में भी कहा गया है। ऋषभ स्वर में अग्नि का वीज निहित होने के कारण धैवत जब उस अग्नि के साथ सहयोग करता है तो पित्त में तीव्रता आजाती है और शरीर में पिरोये हुये नये पुराने दोष 'रेध' के युगल अभ्यास एवं बार-बार बढ़त पुनरावर्तन (मीड़ादि क्रमानुगत) से दोष मुक्ति के साथ दृढ़ निश्चयी शान्ति की प्राप्ति होती है और कंठ जगत् के सभी अवरोध समाप्त होजाते हैं जिससे स्वर साधन व गायन सभी सहज व प्रसन्नता को प्रदर्शित करते हैं।

स्वरूपो गान्धारः हरिवसति भूतो हि निषदः।
हरौ वैकुण्ठस्थे सुरगणवृते चानुसरिते।।

हयाग्न्योः सम्वादात् मिलितस्वरघोषञ्च भवति।
भवेद्दिव्याशोभा विजित निज क्रोधादि पुरूषः ।।४२।।

अन्वय—गान्धारः स्वरूपः निषदः हरिवसतिभूतः (अस्ति)। वैकुण्ठस्थे हरौ सुरगणवृते अनुसरिते च दिव्या शोभा भवेत् विजित निज क्रोधादिपुरूषः (तथैव) हयाग्न्योः सम्वादात् मिलितस्वघोषम् भवति।

अर्थ—गान्धार स्वर ईश्वर का स्वरूप है वैकुण्ठ में स्थित सरगुणों से सेवित हरि के होने पर एक अलौकिक शोभा होती है। उसी प्रकार सप्तम एवम् तृतीय स्वर के सम्बन्ध से मिलते स्वर का उद्घोष होता है और उससे मनुष्य उस सम्वाद के प्रभाव से अपने क्रोधादि विकारों को भूल जाता है। यही गनी स्वर सम्वाद का विशिष्ट प्रभाव है अतः साधन काल एवम् साधनोपरान्त गनी के उपरोक्त साधन प्रभाव को समझते रहना चाहिये। इससे हर प्रकार के मानसिक तनाव विषाद सभी शान्त हो जाते हैं।

गनीसुसम्वादादमृतरसस्रावं श्रवणयोः।
शमन्त्रितापानाम्भवतिनिवृतिर्रागविषयोः।।
तदाब्रह्मानन्देचितघननिकुञ्जे विहरति।
गुणातीतरूपम् गलित भवभीतिञ्च श्रवतः।।४३।।

अन्वय— गनीसुसम्वादात् श्रवणयोः अमृतरसस्रावम् त्रितापानाम् शमम् राग विषयोः निवृतिर्भवति तदा चितघन निकुञ्जे ब्रह्मानन्दे विहरति श्रवतः गुणातीतम् गलितभव भीतिञ्च भवति।

अर्थ—ग और नी के स्वस्थ्य सम्वादसे कानों में अमृत रस टपक पड़ता है तीनों तापों की विकृती का शमन हो जाता है। तथा राग एवम् विषयाशक्ति से छुटकारा मिल जाता है और उस चिद्घन रूप निकुञ्ज में जो ब्रह्मानन्दात्म है उसमें विहार करने लगता है। उसका स्वरूप त्रिगुणातीत होजाता हैं और उस समय

वह सांसारिक भयादि के कुचक्रसे त्यक्त होकर ईश्वरमय हो जाता है। कहने का भाव यह है कि गनी के श्रुतिविन्दु सम्वाद का यही विशिष्ट प्रभाव है।

विवर्तः सन्नादे युगलनिजभेदौ वितनुते।
अनाघाताघाते अतिवचनमात्रम् च निचितम्।।
नियतपूर्वत्त्वे करणकरणत्वेन विदुषा।
समानाधारत्वम् न च करण कार्ये प्रभवति।।४४।।

अन्वय— नादे विवर्तः सन् युगल निज भेदौ वितनुते अनाघाताघाते, अतिवचनमात्रम् च निचितम्। विदुषा नियत पूर्वत्वे करण करणत्वेन न च करण कार्ये समानाधारत्वम् न प्रभवति।

अर्थ—बिन्दु नाद का ही विवर्त परा, पश्यन्ती मध्यमा एवम् वैखरी वाणी है वही बिन्दु नाद आहत एवम् अनाहत भेदसे दो प्रकार का लोगोंने निश्चित किया है किन्तु यह सिद्धान्त शास्त्र वचन का अतिक्रमण मात्र है क्योंकि शास्त्र सम्मति है कि "नियतपूर्वभावित्वम् करणत्वम्" अर्थात् कार्य के अव्यवहित पूर्व करण यानी कारण की सत्ता रहती है। कारण के अव्यवहितोत्तर कार्य की सत्ता होती है अतः कार्य एवम् कारण का समानकालिकत्व सिद्ध नहीं होता। अनाहत ही आहत का कारण है अतः अनाहत कारण एवम् आहत कार्य है इसलिये दोनों का समानाधिकरण नहीं बनता। अतः बिन्दुनाद को आहत एवम् अनाहत भेद करना उचित प्रतीत नहीं होता। क्यों कि पञ्च प्रपञ्च एवम् नादब्रह्म अभिन्न हैं।

मृदाजन्मस्थानम् घटनियतपूर्वे च भवनम्।
यथातन्तोः शाटी प्रथितप्रथमाच्चैव करणम्।।
अनाघातोहेतुः हतजनिनदानाम्प्रजनने।
उभौ भेदौ नादे युगपदजनेः नैव क्रियताम्।।४५।।

अन्वय—मृदा जन्मस्थानम् घटनियत पूर्वे च भवनम्। यथा तन्तोः शाटी (भवति) प्रथित प्रथमाच्च करणम्। हतजनिनदानाम् प्रजनने अनाघातो हेतुः। युगपद जनेः नादे उभौ भेदौ नैव क्रियताम्।

अर्थ—घट के पूर्व में जिस प्रकार से मिट्टी की उपस्थिति रहती है तथा साड़ी निर्माण के पूर्व क्षण में धागे (रूई) की उपस्थिति रहती है वही करण अर्थात् कारण है। घड़ा अथवा साड़ी की उपस्थिति मिट्टी अथवा धागे के समकाल में नहीं रहती। अतः आहत की उपस्थिति अनाहत के समकाल में सिद्ध नहीं होती। अतः दोनों का भेद कहना युक्ति संगत नहीं है।

विवर्तेनाघाते नियमनविधौ मा विभजताम्।
विन्दोरद्वैतत्वादखिलप्रविभेदो न घटते।।
यथाविश्वोमाया-मभिनिविश-न्नैव विकृतो।
तथैवाहन्नादो निजजननिविन्दौ प्रविशते।।४६।।

अन्वय—अनाघाते वितर्ते नियमनविधौ मा विभजताम् विन्दोः अद्वैतत्वात् अखिल प्रविभेदो न घटते। यथा विश्वः मायाम् अभिनिविशन्नैव विकृतः तथैव नादः आहन् निज जननि विन्दौ प्रविशते।

अर्थ—अनाहत के विवर्तित होने पर पूर्व नियम के आधार पर उसका विभाजन न करें क्योंकि नाद विन्दु अद्वैत है अतः उसका भेद एवम् प्रभेद करना उचित नहीं है। जिस प्रकार विश्व अपने कारण माया में प्रवेश करता हुआ विकृति से परे होजाता है उसी प्रकार आहत नाद भी अपने मूल कारण नाद बिन्दु में प्रवेश कर जाता है। इस लिये आहत अनहत भेद नाद के स्थान पर अभेद नाद के इस प्रकार से राग यमन अथवा अन्य रागों में गाना चाहिये।

गुणाः पूजास्थानम् प्रकृतिगतवैषम्य रचना।
जगताम्विश्वेषाम् चहसमवधानाच्च प्रलयः।।

रजोयुक्ताकाशे सहजनदविकासश्च भवति।
तदभिन्नाभिन्ने गुणगणवियोगेन नु परा।।४७।।

अन्वय—गुणाः पूजास्थानम् प्रकृतिगत वैषम्य रचना (भवति) विश्वेषाम् जगताम् समवधानाच्च प्रलयः। रजो युक्ताकांशे सहजनदविकासः च भवति। तदभिन्नाभिन्ने गुणगण वियोगेन परा (भवति)।

अर्थ—गुण पूजा के स्थान है क्योंकि उन्हीं की विषमता पर ही सृष्टि की रचना होती है। भाव यह है कि सृष्टि की वेला में तीनों गुणों में क्षोभ होता है उसमें न्यूनाधिक्य होजाने पर सृष्टि का आरम्भ होता है। उनके समानभाव होने पर प्रलय हो जाता है जब आकाश में रजो गुण अधिक होता है तो स्वाभाविक नाद मुखरित हो जाता है तथा उससे रहित होने पर परा वाणी ही रह जाती है अर्थात् अनाहत ही अवशिष्ट रहता है।

तथात्माकाव्यस्य ध्वनिरितिबुधैः प्राग्घिविहितम्।
प्रतीतार्थे शब्दे ध्वनिजव्यपदेशश्च मुनिभिः।।
तथा व्याकरणेऽनुकृतसमकाव्येषु वचनम्।
तथापीर्ष्याद्वेषात् विकृतहृदिकाव्ये सहृदयाः।।४८।।

अन्वय— तथा काव्यस्य आत्मा ध्वनिरिति बुधैः प्राक् हि विहितम्। प्रतीतार्थे शब्दे मुनिभिः ध्वनिजव्यपदेशश्च कृतः। यथा व्याकरणे अनुकृत समकाव्येषु वचनम्। तथापि ईर्ष्या द्वेषात् विकृत हृदि (जाते) काव्ये सहृदयाः भवन्तीति शेषः।

अर्थ—इस प्रकार काव्य की आत्मा ध्वनि है जिसको विद्वानों ने अद्वेष भाव से कह दिया है जिससे अर्थ की प्रतीति होती है उसे ध्वनि के नाम से व्यवहृत करते हैं। जिसप्रकार व्याकरण में कहा गया है उसी का अनुसरण कुछ काव्य शास्त्रों में किया गया है। फिर भी ईर्ष्या एवम् द्वेष के कारण विकृत हृदय होजाने पर भी काव्यों के प्रभाव से वे शुद्ध हृदय वाले हो जाते हैं।

ध्वनिमाश्रित्यैव जगतिव्यवहारः प्रचलति।
सिद्धे सम्बन्धेर्थे घटपटपदानाम् व्यवहृतिः।।
तथाकाले योगादचलचलस्वारस्य रचना।
प्लुते ह्रस्वे दीर्घे तदभिसम् बन्धस्य कथनम्।।४९।।

अन्वय—ध्वनिम् आश्रित्य एव जगति व्यवहारः प्रचलति। सिद्धे अर्थे सम्बन्धे च इति घटपटपदानाम् व्यवहृतिः। तथा काले यागात् अचल सचल स्वारस्य रचना। ह्रस्वे दीर्घे प्लुते च तदभिसम्बन्धस्य कथनम्।

अर्थ—ध्वनि का आश्रय लेकर ही जगत में सारा व्यवहार चलता है। शब्द, उसका अर्थ, दोनों के साथ सम्बन्ध ये तीनों नित्य हैं। जैसे घट शब्द कहने पर उसके अर्थ कम्बु ग्रीवादिगत पदार्थ से नित्य सम्बन्ध है। इसी शब्द के आधारपर ही जगत् का व्यवहार चलता है। उस ध्वनि का काल के साथ योग होने पर ही अचल एवम् सचल स्वर की रचना होती है उसी के योग से ही ह्रस्व दीर्घ प्लुत का भी उच्चारण होता है जिसे ही उदात्त अनुदात्त और स्वरित नाम से जाना जाता है।

लयास्थानम्वायुर, खिलश्रुतिबिन्दौ च यमते।
विना यन्त्रम् बिन्दौ स्वरनियमन नैव भवति।।
अतो वै संगीते परममहद्भूतोऽजभ्यसनम्।
स्वरे भारम् वायौ दहनसहयोगेन वहति।।५०।।

अन्वय—लयास्थानम् वायुः अखिल श्रुति बिन्दो च यमते। यन्त्रम् विना बिन्दौ स्वरनियमन नैव भवति। अतो वै संगीते.अजभ्यसनम् पर महद् भूतः। वायौ भारम् दहन सहयोगेनस्वरे वहति।

अर्थ—लय का स्थान (तालसम्बन्धीलय) वायु है जो सम्पूर्ण श्रुतियों को नियन्त्रण में रखती है विना यन्त्र वाद्य के स्वर का नियमन सम्भव नहीं

है इसलिये संगीत में अच् का अभ्यास परम उत्कृष्ट है। वायु में स्थित भार अग्नि के सहयोग से स्वर में ढोने योग्य हो जाता है अर्थात् स्वरों के आरोहा-वरोह क्रम में कंठ जगत् सहज व स्वर तनाव रहित हो जाते हैं।

खयोनिः स्वराणामवनिनिहितो तन्तुनिवहः।
अचांकर्ष्टातन्तुः जलबलममोघेन रणति।।
समभ्यासे नादे ग्रहगणसुरोडूनि भजते।
किन्नरगन्धर्वाः ऋषिमुनिसुशर्वाश्च भजिताः।।५१।।

अन्वयः—स्वराणाम् ख योनिः तन्तु निवहः अवनि निहितः तन्तु अचां कर्ष्टा जलबलं (तेन) अमोघेन (बलेन) रणति। नादे समभ्यासे (सति) ग्रहगण सूरोडूनि भजते। किन्नर गन्धर्वाः ऋषि मुनि शर्वाश्च भजिताः।

अर्थः—स्वर के ध्वनि की योनि आकाश है। पृथ्वी तत्व के माध्यम से तन्तुओं (तारोंका) का निर्माण होता है। यही तन्तुयें कण्ठ जगत के तन्तुओं को झंकृत करके अचों को आकर्षित करती है। जल में बल निहित है उसी से स्वरों का अनुरणन होता है। इस प्रकार पृथ्वी तत्व के तन्तु (तार) से जलीय शक्ति लेकर आकाश देश में विलीन शब्दों का आकर्षण होता है और अचों के अभ्यास से ग्रह, सुर एवम् नक्षत्रों की आराधना भी पूर्णरूपेण हो जाती है। किन्नर, गन्धर्व, ऋषि, मुनि एवम् शिव की भी आराधना हो जाती है। संगीतशास्त्र व स्वराभ्यास की यही विलक्षण महिमा व सर्वोच्च उपदेयता है। सस्वर पाठ" से सभी ग्रहों की शान्ति का योग स्वरापात निवारण स्तोत्रम् से सम्बन्धित है जो कि साप्ताहिक रूप में उपयुक्त है।

स्वराराधम् शास्त्रम् जननिरपराधञ्च कुरूते।
सुनिर्वादम् वादय शमितसविषादं स्वरपिनाम्।
तथान्तेचिद्रूपे नटवरशिवाद्वैतपरमे।
रमे ब्रह्मानन्दे चरणमकरन्दे पशुपतेः।।५२।।

अन्वय—शास्त्रैः स्वराराधम् जननिरपराधम् च कुरुते। स्वरपिनाम् शमित सविषादम् वादम् सुनिर्वादम् (भवति) तथा अन्ते चिद्रूपे नटवर शिवाद्वैत परमें ब्रह्मानन्दे पशुपतेः चरण-मकरन्दे रमे।

अर्थ—शास्त्रीय मार्ग से स्वर की आराधना जिज्ञासु के जीवन को अपराध से रहित कर देता है। स्वर वेत्ताओं के सभी वाद समाप्त हो जाते हैं। कहीं से किञ्चित् मात्र भी किसी प्रकार का भेद जनित द्वैत नहीं रह जाता न ही किसी प्रकार का हर्ष और विषाद ही रह जाता है। अन्त में नटवर शिवाद्वैत स्वरोत्कृष्ट ब्रह्मानन्द पशुपति के चरण पराग में रमण करते हैं।

सुधांशुवक्त्राच्च्यवितः सुधारसः
श्रीमत्कृपायोगि त्रिवेणिनाम्नः।
प्रवाहितः पुस्तकमय-धरित्र्याम
संगीतशास्त्रम् समलङ्करोतु।।५३।।

कृपानन्द योगी त्रिवेणी नाम से प्रसिद्ध के मुख रूपी चन्द्रमा से विगलित होता हुआ अमृत रस पुस्तकमय धरती पर प्रवाहित होता हुआ संगीत शास्त्र को सुशोभित करे।

परिशिष्ठ

नवाचों में 'अ' ही प्रमुख है। यही सर्वाचों को मुखरित करता है। जो अपने को अनेक बनादे और स्वयम् में एक बना भी रहे उसी को ब्रह्मतत्व नाम से जाना गया है और वही संस्कृति का मूल है अर्थात् उस ब्रह्म तत्व में 'अ' का उच्चारण सर्व प्रथम है। भगवान् श्री कृष्ण ने भी गीता में इसी को चरितार्थ किया है।

अ ई ऊ ऋ लृ ए ऐ ओ औ इन्हीं को नवाच कहते हैं बिना इनके कोई भी उच्चारण नहीं हो सकता। जिस प्रकार से नव अचों में अ की प्रधानता है और उसका उच्चारण प्रमुख है उसी प्रकार से अन्य अचों का भी उच्चारण महत्वपूर्ण है। यदि 'अ' को राजा मान लिया जाय तो अन्य सभी अच् उसी की प्रजा के समान हैं। यही सृष्टि की संस्कृति है। और राजा प्रजा के माध्यम से यही प्रचलित है। जो सदा विद्यमान रह कर पथ का प्रदर्शन कर रही है। संस्कृति के आधार पर हम सभी राजा प्रजा मिलकर या अलग-अलग देवी देवता सन्त महात्मा योगी ज्ञानी गुरु विद्वान महापुरुषों को किसीं न किसी उद्देश्य से समाधान के लिये अवश्य ही उनसे जुड़ते हैं। पाठ पूजा ध्यान जप तप तीर्थ पर्यटन से युक्त होकर स्वयं के लक्ष्य की सिद्धि हेतु प्रयत्न करते रहते हैं और इस प्रयत्न से तरह-तरह के तनाव दबाव से मुक्त भी होते हैं। यदि साधन भजन से कुछ उपलब्धि हुयी तो उन विचारों को जग जाहिर करने का प्रयत्न भी करते हैं। और जब विचारों अथवा अपनी उपलब्धियों को हम प्रकाशित करने के लिये लेखन सामग्री को चयनित करते हैं तो उस समय भी हम देवी देवता अपने ईष्ट का स्तवन करते हैं उस स्तवन में ऋषि मुनि सन्त महात्मा गुरु वेद वेदान्त योग दर्शन न्याय व्याकरण शास्त्र जो संस्कृति के मूल हैं सभी की चर्चा से हम अद्वेष भाव में अवगाहन करने लगते हैं।

इसी ध्येय से निकटस्थ राज कुल परिवार का स्तवन ग्रन्थ पूर्ति के लिये शुभ मान कर किया गया है क्योंकि अचार्चिक दर्शन अद्वेश और अद्वैत दर्शन को प्रतिपादित करके अपने कर्तव्य का पालन किया है जो निम्नांकित है।

मैं (ग्रन्थकर्ता) कृपायोगी जिस महान् विभूति की महती कृपा से अपने को कृतार्थ कर सका हूँ वे धराधिप, योगिराज, गोद्विजपूजक, धर्मसेतु, भवविभवस्वरूप, सकल परम्परागत सदाचार परायण, नास्तिक वादिवृन्द मृग-सिंह कुवँर श्रीपाल सिंह जी हैं। जिनकी सत्प्रेरणाओं से धर्मोद्वेलित मेरा मन हर्षातिरेक से भर कर दर्शन के प्राङ्गण में संगीत का सुधाकलश लेकर थिरक उठा। उनके प्रति भी मेरी भावनायें भीतर न समा सकने के कारण श्लोक के रूप में निकल पड़ी। अतः उनको साजनेसवाँरने का उत्तरदायित्व भी आप के ऊपर आया जिसमें उन्होंने अपने कर्त्तव्य का यथोचित पालन किया। अतः उनका बहुत-बहुत आभारी हूँ।

विदुषामनुचरः

पं. त्रिवेणी प्रसाद त्रिपाठी

(कृपायोगी)

क्षतानाम् त्रातारम् मुनिवरगणैः क्षात्रमुदितम्
अलङ्कुर्वन्नेतम् मदन-करि-कुम्भेति चकमे।।
लसन्मुक्तापाणिः हरिकुलंकुले भासित सुधीः।
प्रसक्ते वैराग्ये जयतु हरिपालो हि क्षितिपः।।१।।

अर्थ— मुनिश्रेष्ठों ने दुःखियों की रक्षा करने वालों को क्षात्र कहा है। उस धर्माचरण करने वालों को ही (राजकुल से संवंधित) क्षत्री कहा है। ऐसे शब्द को अलंकृत करने वाले तथा कामदेव रूपी हाथी के शिर कुम्भ (मस्तक) पर सुशोभित होने वाले हरि (सिंह) रूप में स्थित हाथ में गजमुक्ता ग्रहण करते हुये अथवा जिसके हाथ में मुक्त लोग भी रहते हैं। अतएव सिंह वंश के समुदाय में भासमान बुद्धिमान वैराग्य ज्ञान योग और भक्ति जो कि भारत की मूल संस्कृति है में सदा रत और उसका समादर करने वाले राजाहरिपाल सिंह सिंगरा मऊ सदा स्तुति योग हैं इसलिये मैं उस तेजवान पुरुष की स्तुति और जै-जै-कार करता हूँ।

सः प्रेष्ठः संसारे हरिगुणगणासक्तस्वशयः।
स्वयम् लक्ष्म्यारीशो भवतरण पुत्रोऽपि सुषुवे।।
सुनाम्ना श्रीपाल इति-सकल-लोकेषु विश्रुतिः।
चिरञ्जीव्यात् सैषः सुरभि कुलपो योगि तपनः।।२।।

अर्थ—संसार में वही सबसे प्रिय हुये। हरि के गुणगान में आसक्त आत्माराम उस राजा ने लक्ष्मी का स्वामी होते हुये भव से तारने वाले पुत्र को जन्म दिया जिसका सुन्दर प्रभावशाली नाम श्रीपाल सिंह है जो चतुर्दिक् सभी लोगों में प्रसिद्ध हुये वही नृपति जो गोकुल की रक्षा करने वाले तथा संगीत स्वरवेत्ता योगियों में सूर्य के समान तेजवान अमृत पद प्राप्ति में तल्लीन चिरञ्जीवी हों।

सदाधीता गीता सुरसरिजलोर्म्याम् विगहितम्।
द्विजार्तानाम् सेवा मनसि हरिरूपस्य द्युतिता।।
निकेते शम्भोश्च सततरतितानन्दिसवनम्।
सुषुम्णा संविष्टः कलिकलुष नष्टा च नृपतिः।।३।।

अर्थ— जिसने सदा गीता का अध्ययन किया है तथा गंगा जी के तरंगों का अवगाहन किया हैं जिन्होंने ब्राह्मणों, दुखियों, असहायों की सदा ससम्मान सेवा की है जिसके मन में हरि के रूपकी गान्धार स्वरूप स्वर की कान्ति दमकती रहती है जिसका निरन्तर स्नेह शम्भु जी के मन्दिर में रहता है जो सदा नन्दीश्वर का अभिषेक करते रहते हैं इसप्रकार के राजा श्रीपाल सिंह जो सुषुम्णा में अनुप्रवृष्ट हो जाने से कलियुगी पाप को निश्चय ही नष्ट कर दिया है ऐसे संगीतशास्त्र व वैदिक स्वर परम्परा में अनुरक्त श्रीपाल सिंह-सदा अमृक पद में स्थित रहें।

हरिः षड्जाधीशः ऋषभस्वरनाथा जलधिजा।
सुपालः श्रीहर्योःसगुण्द्वयरूपम् च सुवभौ।।
स्वराणाम् ते मूलाः अवनिपकुलाधीशसुधियः।
न शक्या व्याख्यातुं श्रयति सततं श्रीश्च क्षितिपम्।।४।।

अर्थ— संगीतगत् प्रथम नाद बिन्दु षड्ज के स्वामी हरि हैं और ऋषभ स्वर की स्वामिनी श्री जी हैं अतः दोनों के पालने अर्थात् हरिपाल एवम् श्रीपाल के नाम से दो सगुण रूप प्रचलित-सुशोभित हुआ अर्थात् संगीत के दोनों स्वरों ने ही पितापुत्र के रूपमें दो सगुण अवतार धारण किया। राजाओं के स्वामी ये व्यवस्थित बुद्धिमान स्वर के मूल ही हैं जिसकी व्याख्या करना अत्यन्त कठिन है क्यों कि आज शक्तिस्वरूप श्री ही निरन्तर उनका आश्रय लेती हैं।

मदनवेगविनाशकक्षोणिपः।
हसितरागविवर्द्धित विक्रियः।।
सकलयोगिसमूहविशेषितः।
परमब्रह्मनिवेशितमानसः।।५।।

अर्थः—जिस राजा ने कामदेव के वेग को ही अवरुद्ध करके हाथी के बल से युगलबन्दी के साथ प्राणायाम की कुम्भकीय शक्ति का अनुभव किया तथा राग से बढ़े हुये विकारों को नष्ट कर दिया संपूर्ण योगिसमूहों में जो विशेष रूप से चर्चित हैं और योगी रूप से सदा देखे जा रहे है जिसने अपने सारे मानसिक व्यापार को पर ब्रह्म में प्रविष्ट कर दिया हैं ऐसे श्री पाल सिंह आत्मा में परमात्मा को देखते हुये उपसम रूप में सदा विद्यमान हैं।

चरणपद्मपरागपरागहृत्।
शयितश्रीहरिहृन्नवकर्णिकः।।
विषयपुञ्जनिकुञ्जसुमञ्जुलम्।
मृगमनो स्वविवेकगुणैर्धृतः।।६।।

अर्थः—चरण कमल के पराग एवं पञ्चम स्वर जो शिखर श्रुति पर दर्शित होता है उस पञ्चम स्वर 'प' के राग को आकर्षित करने वाले हृदय के नव कर्णिका पर प्रभू को विश्राम करने वाले विषय समूह के झुरमुट सुन्दर मृग रूपी मन को जिन्होंने अपने विवेक रूपी रस्सी से बाँध लिया है।

चिरञ्जीव्यान्नृपश्चैषः कलिकालेऽपि धार्मिकः।
रक्षिता यो भवतप्तगोद्विजदीनचेतषाम्।।७।।

अर्थः—कलिकाल में भी धर्म पथ पर चलने वाले तथा संसार में तपते हुये गौ, ब्राह्मण एवम् दीन चित्त वालों के जो रक्षक हैं ऐसे नृपति चिरञ्जीवी हों।

